वर्ष-7, अंक-11
इंटरनेट संस्करण : 134

गर्भनाल पत्रिका

प्रवासी भारतीयों की मासिक ई-पत्रिका

www.garbhanal.com
ISSN 2249–5967
जनवरी 2018

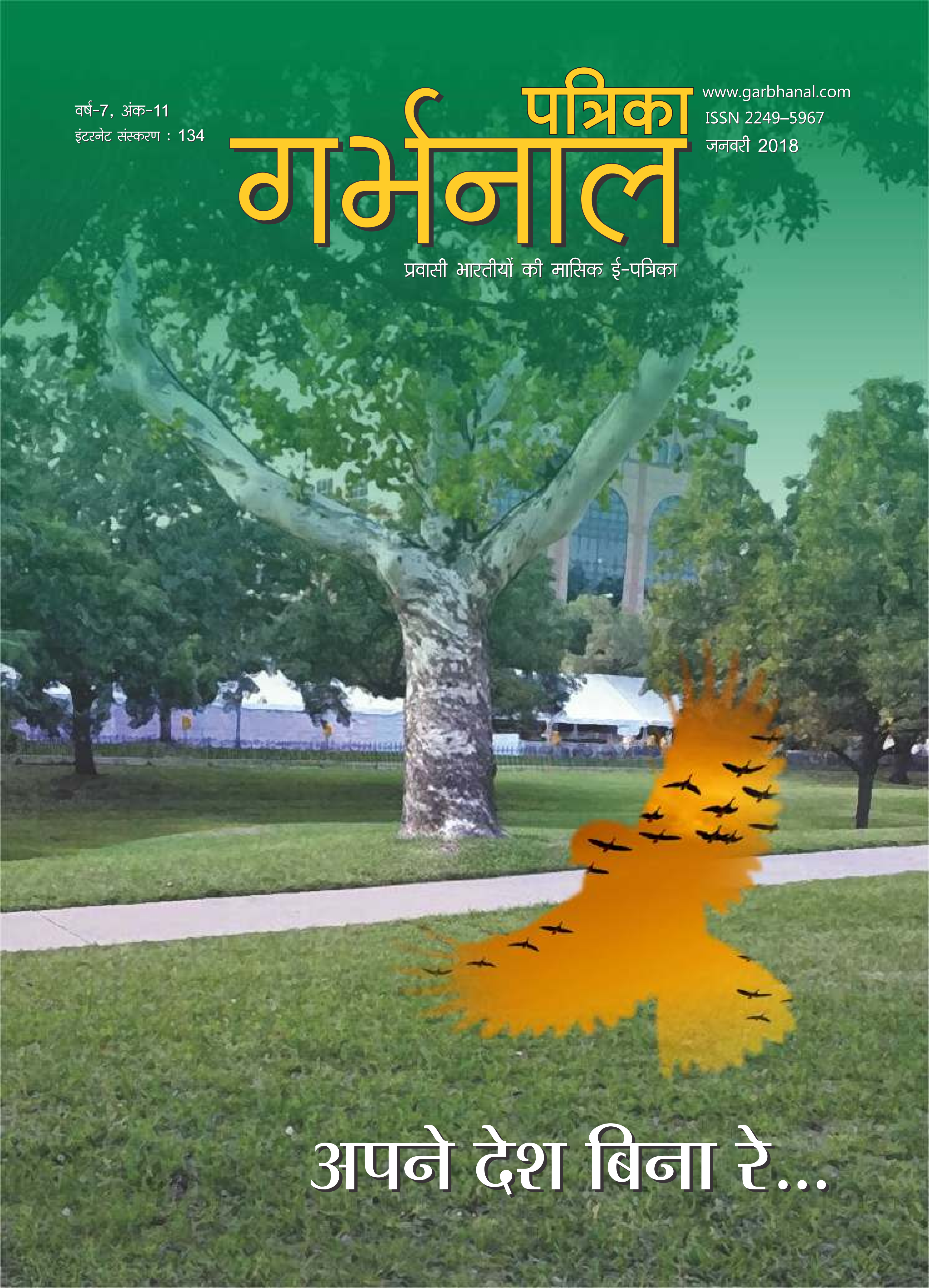

अपने देश बिना रे...

गर्भनाल

एक क्लिक पर पूरे अंक एक साथ

www.garbhanal.com

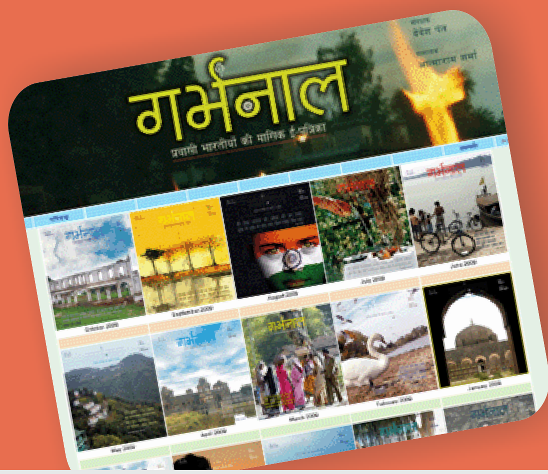

गर्भनाल के पुराने अंक पाएँ
एक साथ एक ही जगह
लॉगऑन करें

www.garbhanal.com

अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें :
garbhanal@ymail.com

गर्भनाल पत्रिका

वर्ष-7, अंक-11 (इंटरनेट संस्करण : 134)
जनवरी 2018

सम्पादकीय सलाहकार
राजेश करमहे

परामर्श मंडल
डॉ. हाइंस वर्नर वेसलर, स्वीडन
डॉ. राघवेन्द्र झा, ऑस्ट्रेलिया
डॉ. दिनेश श्रीवास्तव, ऑस्ट्रेलिया
अनिल जनविजय, रूस
अजय भट्ट, बैंकाक
ललित मोहन जोशी, ब्रिटेन
देवेश पंत, अमेरिका
उमेश ताम्बी, अमेरिका
बी.एन. गोयल, कनाडा
आशा मोर, ट्रिनिडाड
डॉ. ओम विकास, भारत
डॉ. रवीन्द्र अग्निहोत्री, भारत

सम्पादक
सुषमा शर्मा

आकल्पन सहयोग
डॉ. बृजेश तिवारी, लखनऊ

तकनीकि सहयोग
डॉ. राजीव यादव, न्यूयार्क

आवरण छायाचित्र - ध्रुव शुक्ल
(केपिटल बिल्डिंग, ऑस्टिन का प्रांगण)

विज्ञापन प्रतिनिधि
गिरीश दिसावाल, इंदौर
91-9303337325

कानूनी सलाहकार
संजीव जायसवाल

सम्पर्क
डीएक्सई-23, मीनाल रेसीडेंसी,
जे.के. रोड, भोपाल-462023 (म.प्र.) भारत.
ईमेल : garbhanal@ymail.com

प्रकाशित रचनाओं के विचार लेखकों के अपने हैं, जरूरी नहीं है कि सम्पादक इससे सहमत हों। विवाद की स्थिति में केवल भोपाल न्यायालय क्षेत्र ही रहेगा।

मैं भी प्रवासी हूं

प्रवासी का दर्द

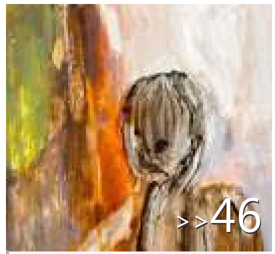

साँकल

इस अंक में

सम्पादकीय :	कहीं बोलना बेकार तो नहीं गया	2
मन की बात :	रवीश कुमार	4
:	मनीष कुमार गुप्ता	7
:	विवेक सक्सेना	9
:	जीतेन्द्र चौधरी	11
:	अनुपमा दीक्षित	12
:	शुभ्रा ओझा	14
डायरी :	डॉ. शैलजा सक्सेना	16
संस्मरण :	शकुन्तला बहादुर	20
स्मरण :	डॉ. वंदना मुकेश	22
विचार :	रेखा भाटिया	25
विमर्श :	रीना गुप्ता	28
:	शन्नो अग्रवाल	31
:	अनुराग शर्मा	33
:	तेजेन्द्र शर्मा	36
व्याख्या :	रमेश जोशी	38
शोध :	डॉ. दानूता स्ताशिक	40
कहानी :	ज़किया ज़ुबैरी	46
कविता :	डॉ. योगिता मोदी	52
:	अनूप भार्गव	53
:	शार्दुला झा नोगजा	54
:	राकेश खंडेलवाल	55
:	संतोष खरे	56
:	गुलशन मधुर	57
रम्य-रचना :	समीर लाल 'समीर'	58
:	सुधा दीक्षित	60
बातचीत :		62
आपकी बात :		64

कहीं बोलना बेकार तो नहीं हो गया...

अगर गहराई से विचार करें तो मनुष्य का एक अद्‌भुत आविष्कार भाषा है। पृथ्वी पर रहने वाले अनेक मनुष्यों ने अपने-अपने भूदृश्यों और आकाश के अनुरूप अपनी-अपनी ध्वनियाँ सुनी हैं, अक्षर बनाये हैं, शब्द गढ़े हैं, वाक्य बनाये हैं और फिर बोले भी हैं। कितनी बोलियाँ और भाषाएँ बनीं इनकी गिनती करना भी ठीक तरह से संभव नहीं हो सका है। अब तो गिनती इस बात की होती है कि कौन-सी बोली का कौन-सा आखिरी आदमी दुनिया से विदा हो गया। फिर भी बची हुई बोलियों और भाषाओं में लोग लगातार बोल रहे हैं। धर्म-चर्चा कर रहे हैं, राजनैतिक प्रलाप कर रहे हैं, बाजार संसार की सारी भाषाओं में अपनी चीज़ें बेच रहा है और लोग खरीद रहे हैं।

किसी समय धर्मक्षेत्र में काम करने वाले लोग अपनी भाषा में सांसारिकता से दूर रहने की सलाह देते थे, आज भी देते हैं। पिछले तीन-चार सौ वर्षों में, जब से दुनिया में लोकतंत्र की परिकल्पना सामने आयी है, तब से मनुष्य को एक तरह की प्रजातांत्रिक सांसारिकता में जिम्मेदार बनाने की गहरी कोशिशें की गई हैं, जिससे कि मनुष्य सिर्फ अपने अकेले की मुक्ति के लिये नहीं, सबकी मुक्ति के लिये जी सके। अब २१वीं सदी का बाज़ार मनुष्य की मुक्ति तो चाहता ही नहीं है, वह हर अकेले आदमी को उसके काम, क्रोध और लोभ की पहचान करते हुए अपनी सीमाओं में बाँधता चला जा रहा है। और इसका जो दुष्परिणाम संसार में हो रहा है वह यही है कि हर आदमी अपनेपन को खो रहा है और परायेपन में जीना सीख रहा है।

प्राचीनकाल में मनुष्य की भाषा कुछ सनातन सत्यों के प्रति आशा जगाकर उसे अपनी जीवन की विफलताओं के बावजूद भी उम्मीद से भरती थी। बाद में लोकतांत्रिक राजनीतिज्ञों ने रोटी-कपड़ा-मकान और सुरक्षा की आशायें जगाकर मनुष्य को नयी उम्मीदों से भरा। पर अब बाज़ार उम्मीद नहीं जगाता, वह बस यही आश्वासन देता है कि दम हो तो खरीद लो। प्रश्न उठता है कि जिन में दम नहीं होगा, वे इस दुनिया से कहाँ जायेंगे।

एक सहज विश्वास मनुष्य को है कि भाषा ही आशा जगाती आई है। आखिर सदियों से मनुष्य ने जो ईश्वर की परिकल्पना की है, वह भाषा के बाहर नहीं है। अगर भाषा हटा दी जाये तो न ईश्वर रहेगा, न राजनीति रहेगी, न बाजार रहेगा और न मनुष्य रहेगा। एक शून्य भर बचा रहेगा। जिसमें आदमी एक-दूसरे को देखने के अलावा और

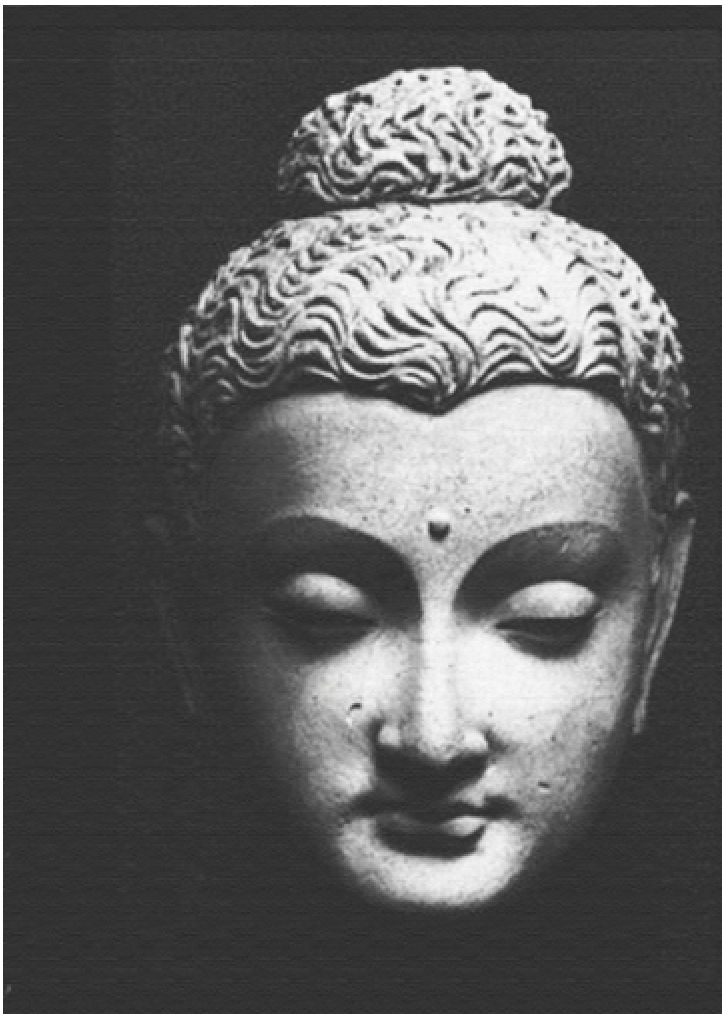

यूँ तो बोलते पक्षी भी हैं, पर पक्षियों ने कभी अपने शब्दकोष नहीं बनाये। अन्यथा कितने शब्दकोष बन जाते, तोतों के अलग, गौरइय्यों के अलग, कौओं के अलग और कोयलों के अलग। आदमी ने भी अपने शब्दकोष बनाये हैं। अंग्रेजी से लेकर संसार को अपने रंग में रंगने वाली कितनी रंगरेज भाषाएँ बनी हैं।

कुछ कर ही नहीं सकता। क्या यही कारण नहीं कि आदमी को बोलना लाजमी लगा। यूँ तो बोलते पक्षी भी हैं, पर पक्षियों ने कभी अपने शब्दकोष नहीं बनाये। अन्यथा कितने शब्दकोष बन जाते, तोतों के अलग, गौरइय्यों के अलग, कौओं के अलग और कोयलों के अलग। आदमी ने भी अपने शब्दकोष बनाये हैं। अंग्रेजी से लेकर संसार को अपने रंग में रंगने वाली कितनी रंगरेज भाषाएँ बनी हैं। आदमी उनमें व्यवहार करता आया है और शब्दों के अर्थों का निर्धारण भी करता आया है। वह चाहता तो गधे को गाय कहता और मान लेता कि गधा ही गाय है, लेकिन न जाने उसने क्यों गाय को गाय ही कहा और गधा को गधा। इसका कोई आधार जुटा पाना बड़ा कठिन है।

हम अपने समय में देख रहे हैं कि हम जिस प्रकृति में रहते हैं वह बोलती बिलकुल नहीं। सिर्फ अपने आपको प्रकट करती है। वृक्ष अपने पत्तों को, फूलों को, फलों को प्रकट भर कर देता है। वह यह कभी नहीं कहता कि उसने पत्ते दिये, फल दिये, फूल दिये, छाया दी। लेकिन मनुष्य को न जाने क्यों बहुत कुछ कहना पड़ता है। उसके राजनेता तो न जाने क्या-क्या कहते हैं। अगर कहने भर से दुनिया चलती होती तो संसार के सारे राजनेता सबसे पहले सफल हो गये होते। फिर कुछ करने की जरूरत नहीं होती।

दरअसल अगर गौर से देखा जाये तो करना भाषा के परे है। आप करते रहिये और बोलिये मत। तो करना दिखता रहेगा। और आपको देख-देख कर लोग करते भी रहेंगे। लेकिन बोलने के साथ यह दिक्कत है कि जैसे ही आप बोलते हैं दूसरे का बोलना उससे भिन्न हो जाता है। पर करने में यह परेशानी नहीं है। अगर आप खड़े होते हैं तो दूसरा भी आपको देखकर खड़ा ही होगा। लेकिन जब आप भाषा में यह कहते हैं कि मैं आपके विरुद्ध खड़ा हुआ हूँ तो भाषा तुरंत किसी दूसरे को आपके विरुद्ध खड़ा कर देती है। भाषा में ही यह क्षमता है कि वह विरोधार्थी रचती है। जबकि जीवन में कहीं भी विरोध नहीं है। कोई किसी के खिलाफ साँस नहीं लेता। कोई किसी के खिलाफ देखता नहीं है। कोई किसी के खिलाफ सुनता नहीं, छूता नहीं है। बस बोलने में ही यह खतरा है कि हर कोई दूसरे के खिलाफ बोलता है।

कई सदियों का मूल्यांकन करें तो संसार को बोलना भारी पड़ गया है। बोल बोलकर संसार थका हुआ जान पड़ता है। संसार के सारे दर्शन इस बात पर करीब-करीब एकमत हैं कि संसार बोलने से नहीं करने से चलता है। प्रश्न यह नहीं है कि वह कृष्ण के करने से चले कि प्लेटो के करने से, वह ईसा के करने से चले या गाँधी के करने से। वह चलेगा तो सिर्फ करने से, केवल बोलने से दुनिया कभी चली नहीं है। चल भी नहीं सकती। इसलिये दुनिया में आज जिस बात पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है वो बोलने पर उतनी नहीं, जितनी कर्म के निर्धारण पर है। अगर दुख है तो वह बोलने से कम नहीं होगा। उसे करने से मिटाया जा सकता है। सुख केवल सुख के विचार से नहीं आता। करने से आता है। अगर यह मोटी-सी बात आज २१वीं सदी का मनुष्य समझने के लिये तैयार नहीं है, तो फिर मनुष्य के अलावा इसको कौन समझेगा।

अगर जड़ की बात करें तो यही लगता है कि मानव जाति के मन में एक अदृश्य और दृश्य दोनों ही तरह का भय समा गया है। बोलना करने को और करना बोलने को प्रभावित कर रहा है। धर्म, राजनीति और बाजार की शक्तियाँ इसमें लगातार एक ऐसा अदृश्य हस्तक्षेप कर रही हैं कि बोलना करना न हो पाये और करना बोलना न बन पाये। कोई-कोई लोग दुनिया में होते रहते हैं जो बोल कर दिखाते हैं, भले ही वे कुछ न कर पाते हों पर उनका बोलना भी किसी समय करने जैसा हो जाता है। ये बोलना अगर करने जैसा हो जाये तो मानव जाति को सुखी होने में कब और कितनी देर लगने वाली है। महात्मा गाँधी ने आखिर किया ही क्या था, अपने बोलने को करने जैसा बना दिया था।

अगर कबीरदास को याद करें तो वह अपने एक गीत में कहते हैं - कि आदमी तो अपने मूल देश से किसी दूसरे देश में आया है। पृथ्वी उसके लिये दूसरा देश है। इस तरह वह पृथ्वी पर प्रवासी है। और पृथ्वी पर रहते हुए हर आदमी की चाह होती है कि वह अपने देश लौट जाये, जहाँ से वह आया है। किसी के लिये वह ईश्वर का देश है, किसी के लिये गॉड का, किसी के लिये ख़ुदा का। ख़ुदा के वास्ते यह उम्मीद करनी चाहिये कि आदमी इस धरती पर जो चाहे सो बोले, जो चाहे सो करे, पर यहाँ आने वाले और दूसरे आदमियों के लिये ये धरती सुरक्षित छोड़कर अपने देश वापस चला जाये जैसे साइबेरिया से भारत की झीलों में प्रवास पर आने वाले पक्षी कुछ समय रहकर वापस अपने-अपने मूल बसेरों की ओर लौट जाते हैं। ■

रवीश कुमार

५ दिसम्बर १९७४ को मोतिहारी, पूर्वी चम्पारन बिहार में जन्म। प्रसिद्ध न्यूज ऐंकर एवं पत्रकार। दिल्ली विश्वविद्यालय से स्नातक और भारतीय जन संचार संस्थान से पत्रकारिता में स्नातकोत्तर डिप्लोमा। गणेश शंकर विद्यार्थी पुरस्कार, रामनाथ गोयनका पुरस्कार तथा इंडियन टेलीविजन पुरस्कार से सम्मानित। सम्प्रति - वरिष्ठ कार्यकारी संपादक, एनडीटीवी।

सम्पर्क : ravishndtv@gmail.com

मन की बात

मैं भी प्रवासी हूं

बचपन से पहचान का यह सवाल परेशान करता रहा है। जब पटना शहर से गांव जाता था तो लोग ताने देते थे। बबुआ शहरी हो गया है। चूड़ा दही कम ब्रेड बटर खाता है। शहर और गांव के एक फर्क को जीता रहा। दोनों ही अस्थायी ज़मीन की तरह मालूम पड़ते थे। पटना आता था तो लगता था कि गांव जाना है। गांव जाता था तो लगता था कि छुट्टियां खत्म होते ही पटना जाना है। इस बीच बिहार की अराजकता ने पटरी चेंज कर दी। दिल्ली आ गया। अब तीन जगहों के बीच अस्थायी सफर शुरू हुआ। गांव वाले फिर से कहने लगे कि पटना से ही लौट जाते हो। अपनी ज़मीन पर आया करो। दिल्ली आता था तो बस में डीटीसी वाला कह देता था अरे बिहारी। मुझे अच्छा लगता था। बिहारी। पटना में स्कूल की किताब ने यही पढ़ाया कि गुजराती होते हैं, मराठी होते थे और मद्रासी होते हैं। उसमें बिहारी होते हैं नहीं लिखा था। लगा कि अरे हम भी गुजराती, मराठी की तरह बिहारी हैं। अनेकता में एकता के एक फूल हम भी हैं। बाद में पता चला कि बिहारी कहने के पीछे सस्ते श्रम का अपमान छुपा है।

इतिहास के पन्नों ने समझाना शुरू किया जो मैं भुगत रहा हूं उससे कहीं ज्यादा पुरखे भुगत कर जा चुके हैं। गिरमिटिया बनकर। वेस्ट इंडीज़, मॉरिशस और ऑस्ट्रेलिया तक। बिहार और उत्तर प्रदेश के अभागे इलाके अपने गानों में हम जैसों के लिए तरसते रहे और हम उन गानों की याद में दिल्ली के कमरों में सिसकते रहे। छठ हो या दिवाली। ऐसी हूक उठती थी कि लगता था कि दीवार से सर दे मारें। कहां रोयें और कब तक रोयें। छह फुट के थुलथुल शरीर पर टपकते आंसू अजीब लगते थे। दोस्तों के फिल्म जाने का इंतज़ार करता था ताकि दरवाज़ा बंद कर रो लूं। जब गांव-पटना था तो लोगों को गाली देता था। अब दिल्ली आ गया तो उनकी याद आ रही है। पटना के बांसघाट से लाउडस्पीकर से आती आवाज़। कर्ज़ फिल्म का गाना। तुमने कभी किसी को दिल दिया है। मैंने भी दिया है। फिर हम सबका रास्ते को बुहारना और घाट से

लौटती व्रतियों से चादर बिछाकर ठेकुआ प्रसाद मांगना। सार्वजनिक हिस्सेदारियों से शहर से इतना प्यार हो जाएगा कि आज तक वो किसी पहली लड़की की तरह याद आता रहेगा। सब छूट गया। क्या करें।

दिल्ली के गोविन्दपुरी की गलियां हर वक्त अपने को खोजती थी। दुकानदार से पूछ लेता था। कहां के हो। गोरखपुर। अरे वहीं पास के ज़िले में तो ननिहाल है। कोई रोटी वाला कहता था गाज़ीपुर है, तो कहता था अरे वहीं पास में बड़ी बहन की शादी हुई है। कोई बस्ती का बताता तो बहनों का ससुराल बताकर रिश्ता जोड़ लेता था।

> अचानक एक दिन ध्यान आया। मैं व्हाइट कॉलर प्रवासी हूं। कोई मुझसे परेशान नहीं है। जो मजदूर है उसी को प्रवासी बताकर धकियाया जा रहा है। प्रवासी का भी क्लास होता है। किसी को एलिट प्रवासी से प्रॉब्लम नहीं है। सबको गैर कुलीन प्रवासी से समस्या है।

गोरखपुर वाला तो भाई कहने लगा और दाल में एक पीस मटन का रखने लगा। सीवान का दर्ज़ी फ्री में बटन लगा देता था क्योंकि वहां मेरी मां का ननिहाल था। इतने इलाके, इतने गांवों से रिश्तेदारी फिर भी गोविन्दपुरी की एक गली में अकेलापन। एक दिन चार बजे नार्थ ईस्ट ट्रेन पकड़ने जा रहा था। कोई ऑटो वाला नहीं जा रहा था। बस पूछ लिया कहां के हो जी। बोला मोतिहारी। बस बैठ गया और कह दिया कि हम भी तो वहीं के हैं। चलो स्टेशन। वो भी चल दिया। पैसा ही नहीं लिया। ट्रेन में सवार होते-होते लगा कि फिर कोई रिश्तेदार छूट गया है। एक शहर के बदलने से हमारे कितने रिश्ते बदल गए।

अब इस तरह से परिचय पूछकर नाता जोड़ने का सिलसिला टूट गया है। अब नहीं पूछता कि तुम कहां के हो। अब मेरे जैसे बहुत से लोग इस शहर में हैं। पत्रकार बनकर प्रवासी मुद्दे पर बहस करने लगा। अचानक एक दिन ध्यान आया। मैं व्हाइट कॉलर प्रवासी हूं। कोई मुझसे परेशान नहीं है। जो मजदूर है उसी को प्रवासी बताकर धकियाया जा रहा है। प्रवासी का भी क्लास होता है। किसी को एलिट प्रवासी से प्रॉब्लम नहीं है। सबको गैर कुलीन प्रवासी से समस्या है। ख़ैर धीरे-धीरे अहसास कमज़ोर होता चला गया। लगा कि मैं तो कास्मोपोलिटन हो रहा हूं। फिर भी शहर और गांव की याद तो तब भी आती रही। आज भी आती है।

जब भी बंबई से प्रवासियों की खबर आती है, दिल धड़क जाता है। ये ठाकरे कहता है कि बाहर से आए लोगों के कारण मलेरिया फैला है। दिल्ली की नेता कहती है कि आबादी का बोझ दिल्ली नहीं सह पाएगी। मैंने प्रवासी होने की प्रक्रिया पर कोई किताब नहीं पढ़ी है। अपनी सहजबुद्धि से सोच रहा हूं।

प्रवासी होना एक आर्थिक प्रक्रिया है। आर्थिक ज़रूरत है। वर्ना दिल्ली और आसपास के इलाकों में रियल इस्टेट से लेकर कंपनियों को सस्ता श्रम नहीं मिलता। वर्ना पंजाब के लोग स्टेशन पर मुर्गा मोबाइल लेकर बिहार से आने वाले मज़दूरों का इंतज़ार न करते। हम प्रवासी छात्रों के कारण दिल्ली के बेर सराय, कटवारिया सराय, मुनिरका से लेकर जीया सराय तक धनी हो गए। उनकी झोंपड़ी महलों में बदल गई। दिल्ली विश्वविद्यालय के आसपास का इलाका चमक गया। दिल्ली में अकूत धन और सस्ते श्रम का इंतज़ाम हो गया। रोज़गार और बाज़ार का सृजन हुआ। सरकारी सिस्टम पर बोझ भी बढ़ा। लेकिन एक मंजिल के मकान पर चार मंज़िल मकान बनाकर क्या बोझ नहीं बढ़ाया गया। क्या सिर्फ प्रवासियों ने बोझ डाला? यहां के तथाकथित स्थाई लोगों ने नहीं।

उदारीकरण एक बेईमान आर्थिक अवधारणा है। यह बाजार के विकेंद्रीकरण और उत्पादन के केंद्रीकरण पर टिका है। तभी चंद शहरों के आसपास ही कंपनियां लगाई गईं। उन जगहों में भी कंपनियां लगाने से पहले रिश्वत दी गई। लेकिन बिहार, उत्तर प्रदेश और उड़ीसा को छोड़ दिया गया। कहा गया कि कानून व्यवस्था नहीं है। आज भी प्लंबर और फिटिंग के मामले में उड़िया मज़दूर सूरत से लेकर पुणे तक में प्रसिद्ध हैं। उनके कौशल का जवाब नहीं। दिल्ली को भी बनाने में बिहार, यूपी, उत्तराखंड और उड़ीसा के मज़दूरों से पहले पाकिस्तान से आए शरणार्थी पंजाबियों के सस्ते श्रम और अकूत लगन ने भूमिका अदा की है। उन्होंने दिल्ली को एक नई आर्थिक और सांस्कृतिक पहचान दी। अपने ग़मों को छुपाकर रखा। उनकी सिसकियों की बुनियाद पर जब पसीने गिरे तो पंजाबीबाग से लेकर जंगपुरा तक के मोहल्ले आबाद हो गए। अब हिन्दी हृदय प्रदेशों के मज़दूर इसे आबाद कर रहे हैं। दिल्ली के बदरपुर, मीठापुर, आलीगांव, करावलनगर, भजनपुरा और संगम विहार। यहां भी सस्ते श्रम से धीरे धीरे पूंजी बन रही है। सारे प्रोडक्ट ने अपनी दुकान लगा ली है। लेकिन इन गलियों की सड़न देखकर जी आहें भरता है। रोता है मन। इनको मिला क्या। गैरकानूनी दर्जा। इनके वोट से न जाने कितने नेताओं की दुकानें भी चलीं। अर्थव्यवस्था के साथ-साथ राजनीति भी प्रवासियों से फायदा उठाती है।

तो क्या प्रवासियों को वापस भेजा जा सकता है? प्रवासी का मतलब मज़दूर से क्यों हैं। ग्लोबल प्रवासी भी तो हैं। जो दिल्ली से जाकर बंगलौर में नौकरी करते हैं। वहां से अमेरिका जाते हैं। प्रवास सिर्फ श्रम का नहीं है। टेक्नॉलॉजी का भी तो है। एक जगह की कार दूसरी जगह बिक रही है। बाज़ारवाद ही प्रवास पर टिका है। वो स्थायी नहीं है। उसकी कोई स्थायी ज़मीन नहीं है। उत्पाद बिकने के लिए प्रवास करते हैं। चीन का माल भारत आता है। दुनिया की अर्थव्यवस्था प्रवासी उत्पाद और प्रवासी उपभोक्ता के दम पर चल रही है। एयरलाइन्स का कारोबार काम से प्रवास पर निकले लोगों से चल रहा है।

किस-किस को भगायेंगे आप। जब मज़दूर भगाये जायेंगे

तो टेक्नॉलजी भी लौटा दी जाए। सब अपनी-अपनी भाषा में टेक्नॉलॉजी का विकास कर लें और जी लें। जब टेक्नॉलॉजी का हस्तातंरण हो सकता है तो श्रम का क्यों नहीं। उसे रोकने का नैतिक आधार क्या है? इस दौर में स्थानीय रोज़गार की अवधारणा खत्म हो चुकी है। क्या अमेरिका को सिलिकॉन वैली से भारतीय प्रवासियों को लौटा नहीं देना चाहिए? अगर सरकार आर्थिक उत्पादन का विकेंद्रीकरण नहीं कर सकती, राज्यों में संस्थाओं का विकास नहीं कर सकती तो प्रवासी होने के अलावा चारा क्या है। आखिर क्यों आईआईएम अहमदाबाद और आईआईटी के लोग बाहर जाते हैं। क्या ये प्रवासी होना नहीं है। ये तो बेज़रूरत प्रवासी होना है। इन्हें अपनी जड़ों से बांध कर रखने के लिए क्या किया जा रहा है। आईआईएम अहमदाबाद का मैनेजर किसी अमेरिकी कंपनी के लिए सस्ता प्रवासी श्रम है। प्रवासी होना एक आर्थिक स्वाभिमान है। गर्व से कहना चाहिए कि हम श्रम, बाज़ार और उत्पादन का सृजन कर रहे हैं। इतना ही नहीं प्रवासी होकर हम उत्पाद की प्रक्रिया में अपने श्रम का मोलभाव करने का हक रखते हैं। जहां भी ज्यादा दाम मिलेगा, जहां भी काम मिलेगा, जायेंगे।

हम सस्ते और लाचार प्रवासियों की वजह से ग्लोबल अर्थव्यवस्था में जान आई है। कौन खरीदता नोएडा और ग्रेटर नोएडा के मकानों को। उड़ीसा और झारखंड के लोग उजड़े हैं तभी तो कंपनियों को ज़मीन मिली है। सस्ता श्रम मिला है। ऐसा नहीं हो सकता कि अर्थव्यवस्था प्रवासी से लाभ ले और राजनीति दुत्कार दे। नहीं चलेगा। प्रवासियों को अर्थव्यवस्था का हिस्सा मानकर उन्हें स्वीकार करना होगा। आज कल तो धंधे की प्रतिस्पर्धा में लोगों ने पीछे छूट चुके राज्य को पहचानना शुरू कर दिया है। डीटीसी के ड्राइवर ने जब बिहारी कहा था तब अच्छा लगा था। अब कोई बिहारी कहता है तो राजनीतिक लगता है। बुरा लगता है। इस देश में सब प्रवासी हैं। जो आज नहीं हैं वो कल हो जायेंगे। वो नहीं होंगे तो उनके बच्चे हो जाएंगे। इसलिए अब प्रवासी होने को मौलिक अधिकार में जोड़ा जाना चाहिए।

संविधान में कानून बदल कर प्रवासी होने के अधिकार को जोड़ा जाना चाहिए। ताकि किसी को कहने में शर्म न आए और जो कहे कि देखो वो प्रवासी है, मलेरिया लेकर आया है तो उसे किसी धारा के तहत जेल में ठूंस दिया जाए। अगर राज ठाकरे कहीं से आकर मुंबई और दिल्ली में अपनी ज़मीन बना सकते हैं, दावा कर सकते हैं तो फिर सबको हक है। दक्षिण के राज्यों की हालत तो अच्छी है। फिर वहां के लोग मुंबई, दिल्ली क्यों आते हैं? भारत के सभी राज्यों के लोग यहां से वहां जा रहे हैं।

इसीलिए खुद को प्रवासी कहने में शर्म नहीं आनी चाहिए। इसमें कुछ गलत नहीं है। अगर आप एक राज्य के भीतर एक ज़िले से दूसरे ज़िले में जाते हैं तो भी प्रवासी हैं। अगर प्रवासियों को वापस भेजना है तो ग्लोबलाइजेशन को रोक दो। राज ठाकरे से पूछो कि वो ऐसा कर सकते हैं?

शहर बोझ नहीं सह रहा तो सबको मिलकर सबसे बातकर हल निकालना होगा। किसी एक को भगाकर नहीं। हर शहर संकट में हैं। मुंबई की गत पर बात हो रही है सतारा और पुणे की क्यों नहीं हो रही है। नागपुर भी तो चरमरा गया है। बंगलौर में क्या कमी थी? कर्नाटक से लोग दिल्ली में काम करने आए और अब दिल्ली के लोग वहां नौकरी कर रहे हैं। क्या दिल्ली और मुंबई के लोग दूसरे राज्यों में जाकर काम नहीं कर रहे। प्रवासी होना एक आर्थिक सामाजिक प्रक्रिया है। इसे कोई नहीं रोक सकता।■

मनीष कुमार गुप्ता

१९७७ में बैतूल, मध्यप्रदेश में जन्म। बरकतउल्ला विश्वविद्यालय से कम्प्यूटर विज्ञान में इंजीनियरिंग स्नातक और भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (IIT) कानपुर से स्नातकोत्तर। हिन्दी साहित्य, विशेषकर कविताओं में विशेष रुचि। स्कूल और कॉलेज की पत्रिकाओं में रचनाएँ प्रकाशित। सियटेल इलाके में होने वाले कवि सम्मेलनों और गोष्ठियों में सक्रिय भागीदारी। सम्प्रति - माइक्रोसॉफ्ट में कम्प्यूटर अभियंता के तौर पर कार्यरत तथा रेडमंड, वाशिंगटन में निवास।

सम्पर्क : manishkg@outlook.com

अमेरिका, बच्चे और हिंदी

अमेरिका और दूसरे देशों में बसे भारतीय मूल के लोग ज़रूर वही भाषा सीखें और बोलें जिससे उनके कार्यक्षेत्र और समाज में उनका बसर अच्छे से हो, लेकिन साथ ही हिन्दी को भी उसी तरह से समझ कर उसका इस्तेमाल अपने लोगों के साथ करें तो हिन्दी यूं ही जीवित और प्रगतिशील रहेगी।

मैं जब आज सुबह सोफ़े पर बैठ कर अपनी चाय के मज़े ले रहा था कि मेरी छह वर्ष की बेटी आई और कौतूहल से पूछने लगी, 'पा, रंजना तो हम लोगों के बाद इण्डिया से अमेरिका आई थी, फिर उसे मुझसे अच्छी हिन्दी क्यूँ नहीं आती?'

मासूम सवाल था, तो मैंने यह कहके टाल दिया कि वो इण्डिया में भी इंग्लिश मीडियम स्कूल में पढ़ रही थी, तो वो हिन्दी ज्यादा नहीं सीख पाई।

लेकिन इस बारे में थोड़ा सोचना शुरू किया। मैंने अक्सर दो तरह के प्रवासी माता-पिता देखे हैं और दोनों एक दूसरे से लगभग विपरीत हैं।

एक पक्ष का मानना है कि विदेश में रहने से संस्कृति से दूरी बढ़ेगी और यह भविष्य में अपनी जड़ों से अगली पीढ़ी को हमेशा के लिए काट देगा। यह पक्ष इस बारे में खासा चिंतामग्न है और इसके लिए सांस्कृतिक कार्यक्रम, देसी गीत-संगीत-नृत्य में बच्चों की शिक्षा और तीज-त्योहार पर विशेष आयोजन इत्यादि करता रहता है।

वहीं जो दूसरा पक्ष है, उनका मानना है कि जिस देश में रहते हो उसी के जैसा खाओ, खेलो और बोलो, नहीं तो हमेशा कटा महसूस करते रहोगे और कभी भी मुख्यधारा से नहीं जुड़ पाओगे। इस पक्ष के लोग विदेशी भाषा और रहन-सहन को अपनाने से परहेज नहीं करते। अपने लिए न सही लेकिन अपने बच्चों को प्रोत्साहित करते हैं। ऐसे माँ-बाप आपको अक्सर मिल जाएँगे जो अपने बच्चों से सिर्फ अंग्रेजी में बात करते हैं, भले ही उनकी अपनी अंग्रेजी मशाल्लाह हो।

लेकिन इन दोनों पक्षों में एक समानता है - एक को संस्कृति की तालीम की चिंता है दूसरे को नहीं, लेकिन दोनों में से किसी को भी भाषा की चिंता नहीं है। ये बात ख़ास तौर पर हिन्दी भाषी क्षेत्रों से आए लोगों पर लागू होती है। पहले पक्ष के लोग हिन्दी में बच्चों से बात करते हैं लेकिन उनके अंग्रेजी के प्रत्युत्तर से परेशान नहीं होते। दूसरे पक्ष के लोग तो भले ही अपने परिवार और दोस्तों से हिन्दी में बातचीत करें लेकिन बच्चों से सिर्फ अंग्रेजी में ही बात होती है।

वैसे मैं इस बात को मानता हूँ कि भाषा वही है जो अपनी बात कहने में सक्षम हो और बैठ कर सिर्फ भाषा का परचम लहराना भाषा को और कमजोर करता है। एक बार हिन्दी

दिवस पर मैंने दो पंक्तियाँ ट्विटर पर लिखी थी -

जो ग्रन्थों से गुजरते हुए,
मोहल्लों में मिले, भाषा वही है आबाद
हिन्दी दिवस के auspicious अवसर पर
सभी को दिली मुबारकबाद

हिंदी-उर्दू और English की इस मिलीजुली बधाई का अर्थ यह कि जो जनमानस बोलता है वही भाषा है। लेकिन हमेशा ये बात कचोटती है कि वो प्रवासी जिनकी पहली पीढ़ी ही यहाँ पर विस्थापित हुई है उन्हे अपने बच्चों से अपने संचार के माध्यम वही रखने चाहिए जो वो अपने परिवार और क़रीबी मित्रों के साथ रखते हैं, यही प्राकृतिक लगता है। सिर्फ इतना ही नहीं, वैज्ञानिक भी इस बात को मानते हैं कि बहु-भाषा वातावरण में बढ़ने वाले बच्चों का दिमागी विकास बहुत अच्छा होता है। रहा सवाल देवनागरी लिपि का तो उसकी हालत तो बहुत ही दयनीय है। भारत में ही बहुत से हिन्दी जानने वाले लोग और खासकर वो लोग जो बचपन से देवनागरी में पढ़ाई-लिखाई करते थे, उन्हें भी देवनागरी पढ़ने-लिखने के नाम से पसीने छूट जाते हैं। कहते हैं कि बहुत साल हो गए, अब नहीं पढ़ा-लिखा जाता।

इस बारे में मेरा मत ये है कि हिन्दी में जो साहित्य का खज़ाना है उसे अगर पाना है तो देवनागरी सीखने का इससे अच्छा क्या बहाना हो सकता है। मसलन, बच्चों को अकबर-बीरबल की कहानियाँ अच्छी लगती थीं तो मैंने कहा तुम खुद पढ़ना सीखो और फिर यह अच्छी किताबें पढ़ सकते हो। यह तकनीक बहुत कारगर रही।

सिर्फ बच्चे ही नहीं बड़े भी रोमन में हिन्दी लिख कर अपने परिवार-दोस्तों के बीच मैसेज का आदान-प्रदान करके संतुष्ट हैं लेकिन अगर उन्हें अगर अपने पसंदीदा लेखक-कवि को और जानना है तो देवनागरी में पढ़े और लिखें। हिन्दी की बात देवनागरी में लिखी हुई बहुत सुंदर और सटीक लगती है, na ki roman mein (शायद आप समझ गए होंगे)।

इस बात पर फिर से एक बार ज़ोर देना चाहूँगा कि भाषा वही है जो अपनी बात कहने में सक्षम हो। ज़रूरी नहीं कि हिन्दी बोलना है तो ट्रेन को लौह-पथ-गामिनी कहें, बल्कि अगर यह हठ बना रहा तो हिन्दी के लिए बहुत ही घातक साबित होगा।

एक बार किसी को राजभाषा दिवस के दिन कहते हुए सुना, 'अगर छिन्न-भिन्न और मरणासन्न होती जा रही भाषा का जीर्णोद्धार करना है, तो न केवल उसे संप्रेषणीय और सुगम बनाना होगा अपितु अन्य भाषाओं और उपभाषाओं के लोकप्रिय शब्दों और वाक्यांशों को सहर्ष अपनाने कि तीव्र आवश्यकता है, अन्यथा हिन्दी का परिमार्जन का स्वप्न रसातल कि ओर चला जाएगा।' सुनकर बहुत ज़ोरों कि हंसी आई। यह साहब जिस बात को कह रहे हैं, वो खुद अपनी भाषा में नहीं अपना पा रहे। यही हिन्दी कि विडम्बना है आजकल। भाषा वही बोलें जो बात कह जाये और अगर हिन्दी भाषी लोगों से बात की जा रही है तो हिन्दी से अच्छा और क्या माध्यम हो सकता है बात को कहने का। अमेरिका और दूसरे देशों में बसे भारतीय मूल के लोग ज़रूर वही भाषा सीखें और बोलें जिससे उनके कार्यक्षेत्र और समाज में उनका बसर अच्छे से हो, लेकिन साथ ही हिन्दी को भी उसी तरह से समझ कर उसका इस्तेमाल अपने लोगों के साथ करें तो हिन्दी यूं ही जीवित और प्रगतिशील रहेगी।

अंत में मेरी एक कविता के कुछ अंश -

मैं गूंगा हो जाता अगर हिन्दी न होती
यूं तो इंग्लिश में सीखा सारा ज्ञान-विज्ञान
कमाये जीविका के सिक्के, सामाजिकता का सामान
चुकाए रिश्तों के ऋण, किया सपनों का भुगतान
मगर,
दोस्त को दिया दिलासा भरा आलिंगन
प्यार की पाती, स्नेह का चुंबन
क़रारी हार के बाद का आत्ममंथन
या सर्वशक्तिमान से कभी कोप, कभी समर्पण
यह सब कैसे हो पाता अगर हिन्दी न होती
मैं गूंगा हो जाता अगर हिन्दी न होती। ■

विवेक सक्सेना

देवास, मध्यप्रदेश में जन्म। केमिकल इंजीनियरिंग में उपाधि। हिंदी साहित्य और भाषा से गहरा लगाव। सामाजिक दायित्वबोध से ओतप्रोत। सम्प्रति - ब्रिटिश कंपनी पेट्रोफेक इंटरनेशनल, शारजाह में प्रोजेक्ट मैनेजर।

सम्पर्क : vivek_saxena_2000@yahoo.com

बड़े परिवार से जुड़ना

प्रवासी शब्द हृदय में कई तरह के भाव जगाता है। इसका एक संदर्भ तो शायद वहाँ से शुरू होगा, जब हमारे दादाजी गाँव छोड़कर तहसील आए और जब पिताजी ने शहर की ओर कदम बढ़ाये। और इसके आगे अगली पीढ़ी ने समुंदर के पार जाने की परवाज ली। वैसे मेरे लिए तो प्रवास की शुरुआत तब हो गयी थी जब अपना शहर छोड़ा था। उसके बाद तो बस सीमाएं बढ़ती गयी। शहर से प्रान्त, प्रान्त से दूसरा प्रान्त और फिर दूसरा देश।

बात कुछ १३-१४ साल पुरानी है जब मैं मुंबई में एक अंतरराष्ट्रीय कंपनी के मुंबई ऑफिस के लिए इंटरव्यू दे रहा था और मुझसे पूछा गया कि भारत से बाहर काम करने के बारे में क्या ख्याल है? मैंने कहा अभी तक सोचा नहीं है, तो प्रश्न आया कि क्यों?

मेरा जवाब था कि माता-पिता, परिवार के आसपास रहना चाहता हूँ ताकि जरूरत पड़ने पर तुरंत पहुँच सकूं। कहाँ से हो तुम? अगला प्रश्न था। जी मध्य प्रदेश! तो कैसे पहुंचोगे मुंबई से तुरंत? मैं बोला रात की ट्रैन पकड़कर सुबह इंदौर। तो दुबई कितना दूर है, रात की फ्लाइट लो सुबह इंदौर! वे मुस्कुराने लगे और बोले, सोचो मैं भी जाकर देखता हूँ नए प्रोजेक्ट में तुम्हारे लायक कोई पोजीशन है क्या?

यह थी शुरुआत 'प्रवास' की। अपने अब तक के 'प्रवास' का अनुभव बहुत अंतर्दृष्टि जगाने वाला है। इसलिए मैं जब भी पीछे मुड़कर देखता हूँ तो यह नहीं सोचता कि 'क्या खोया, क्या पाया' बल्कि हमेशा यह खयाल आता है कि क्या 'खोजा' और क्या 'पाया'। प्रवास के आरंभ की उपरोक्त घटना में क्या खोजा? परिप्रेक्ष्य! क्या पाया 'नयी दुनिया'।

पिताजी बचपन में कहा करते थे कि तुम्हें मेरे कंधों पर बैठ कर जो मैं नहीं देख सकता वह देखना है। मेरा प्रवास उनकी यह सोच और 'वसुधैव कुटुंबकम' वाली परवरिश को मूर्त रूप देने की जद्दोजहद है।

जद्दोजहद इसलिए कि इस सोच ने बहुत बड़ा केनवास तो दिया पर उस केनवास पर अपने रंगों से प्रभाव दिखाने का प्रयास अब तक जारी है।

जद्दोजहद इसलिए भी कि अपना अपना देश, अपने लोग - की लकीर खींचना मुश्किल लगता है। वसुधैव कुटुंबकम कहना एक बात है पर महसूस करना एक अलग अनुभव है। जब यह सोचने में आए कि पहले बिहार के बाढ़ग्रस्त लोगों के बारे में सोचूं या किसी और दूसरे देश के शरणार्थियों के बारे में, तब ये समझ में आता है कि 'वसुधैव कुटुंबकम्' मंत्र कितना बड़ा है और उसको निभाना कितना कठिन।

पिताजी के कंधों पर बैठ कर देखना है पर नजर कितनी दूर तक ले जानी है या ले जाई जा सकती है इस बात को

ग्लोबल बिलेज, दुबई

परिभाषित करना कितनी बड़ी चुनौती है। प्रवास के अनुभव से उठती है एक टीस भी, कि जैसी ढांचागत सुविधाएँ विकसित देशों में हैं वो सुविधाएँ हमारे देश में क्यों नहीं। कई बार ये भी सोचने में आता है कि जहाँ हम अधिकारों के लिए इतने जागरूक है वहीं अपने कर्तव्यों को क्यों नजरअंदाज किये रहते हैं। इस तरह के कई सवाल जहाँ मन को विचलित कर देते हैं वहीं विश्व भर में भारतवंशियों के बढ़ते हुए प्रभाव क्षेत्र को देख कर फूली हुई छाती शर्ट के बटन भी तोड़ती है। गंभीर विचारों की श्रृंखला में बटन तोडू कमर्शियल ब्रेक के बाद 'प्रवास' के अनुभवों के दूसरे पहलू की बात करना चाहता हूँ। प्रवास के अनुभवों में अपने भारतवर्ष से बाहर की नयी दुनिया देखने और जीने का रोमांच भी शामिल है। पिछले कुछ वर्षों में विश्व के कई देशों में यात्रा का सुअवसर प्राप्त हुआ। यात्राओं के दौरान इन देशों की भाषा, संस्कृति के बारे में जानने-समझने की कोशिश की।

यह नहीं जान पाया कि स्पेन के 'ऊनो' 'देस', 'त्रेस' हमारे 'एक', 'दो', 'तीन' से इतने मिलते-जुलते क्यों हैं, लेकिन ये जरूर जान पाया की पूरब से लेकर पश्चिम तक मानव मूल्य और रोजमर्रा की दुश्वविरयाँ एक समान हैं। चाहे मैं जापानीज से मिलूं या इतालियन से, अमेरिकन से गुफ्तुगू करूं या थाई से - माँ सबके लिए माँ है और दो कमरे का फ्लैट ख़रीदना सबके लिए एक चुनौती है।

प्यार व्यक्त करने के तरीके, पूरब और पश्चिम में अलग हो सकते हैं, लेकिन वो जो आँखों से झलकता है उसकी कोई भाषा नहीं है, वो हर जगह प्यार है।

सुबह ७:०५ की गाड़ी छूटने का दबाव, चाहे वो मुंबई की लोकल ट्रैन हो, योकोहामा की बुलेट ट्रैन हो या लंदन की ट्यूब हर जगह बराबर है। मेरे लिए प्रवास का अनुभव एक बड़े परिवार वे जुड़ने के समान है जिसमें 'खोजना' और पाना एक निरंतर प्रक्रिया है।

मेरे लिए प्रवास का अनुभव एक बड़े परिवार वे जुड़ने के समान है जिसमें खोजना और पाना एक निरंतर प्रक्रिया है। जैसे-जैसे हम किसी बड़े परिवाार से जुड़ने के बाद अपने आपके बारे में और परिवार के बारे में जानते जाते हैं उसी तरह प्रवास की इस प्रक्रिया में जीवन में कई अनुभव होते रहे हैं। हर अनुभव ने स्वयं के बारे में, हमारी भारतीय संस्कृति के बारे और प्रवास के दौरान संपर्क में आये देशों और वहां के निवासियों के बारे नयी समझ दी है। कई बार ये पाया है कि जैसा हम सोचते थे वैसा वहाँ कुछ नहीं है और कई बार ये खोजा है कि इंसानियत अलग-अलग रूप में सारे विश्व में फैली है। इसी तरह खोजना और पाना बदस्तूर जारी है।■

जीतेन्द्र चौधरी

९ सितम्बर १९६८ को कानपुर में जन्म। डाटाबेस के जानकार। भारत की सामाजिक एवं राजनैतिक दुर्दशा से व्यथित। हिन्दी इंटरनेट की आधिकारिक भाषा बने, ऐसी मन में सद्इच्छा। हिन्दी ब्लॉग जगत में लोकप्रिय हैं। कुवैत में रहते हैं।

सम्पर्क : jitu9968@gmail.com ब्लॉग : http://www.jitu.info/merapanna

प्रवासी का दर्द

प्रवासी एक सामाजिक प्रक्रिया है, इसे रोका नही जा सकता। देखा जाए तो दिल्ली भी प्रवासियों ने ही आबाद किया। पाकिस्तान से आए शरणार्थियों ने इसे सही मायने में आर्थिक रूप से समृद्ध बनाया। जब भारत एक देश है तो उसमें गैर इलाकाई प्रवासी कैसे हुए? मुम्बई में सभी लोगों के लिए समान अवसर थे, बाहर के लोगों ने आकर मुम्बई को आर्थिक राजधानी बनाया, अब वो प्रवासी हो गए? लेकिन तथाकथित राजनैतिक मराठी अस्मिता जैसे मुद्दों में अपनी राजनीतिक जमीन खोज रहे हैं, जहाँ उनको जमीन मिल गयी, फिर वो भी चुप बैठ जाएंगे। राजनीतिक बेरोजगारी बहुत बड़ी चीज होती है।

तस्वीर का एक दूसरा पहलू भी है, हर शहर के विकास की कुछ सीमाएं होती हैं। शहर की आबादी भी उसी अनुसार होनी चाहिए। जहाँ तक दिल्ली की बात है, दिल्ली एनसीआर क्षेत्र काफी विस्तृत हो चुका है, उसका विकास भी सही ढंग से नहीं हो पा रहा है, ऊपर से बढ़ती आबादी, आखिर कब तक मौजूदा इंफ्रास्ट्रक्चर इस बढ़ते बोझ को सम्भालेगा। सरकार को विकास की नयी योजनाएं बनानी चाहिए और उन पर ईमानदारी से अमल करना चाहिए। तभी इन समस्याओं से निजात मिलेगी।

दूसरी तरफ़ गाँवों से शहरों की ओर पलायन अभी भी नहीं रुक रहा। गाँव देहात में रोजगार के अवसर बढ़ नहीं रहे, यही मूल समस्या है। इसका समाधान किया जाना है।

मैं भी एक प्रवासी हूँ, दूसरे देश कुवैत में रहता हूँ, एक प्रवासी का दर्द समझता हूँ। आज भी तीज त्योहारों में अपना घर, अपना शहर याद आता है। उन्हीं यादों के साये में कागद कारे करता हूँ। हम जब अपने देश भारत जाते हैं तो लोग नॉन रिलायबल इंडियन (या Not Required Indians) समझते हैं, विदेश में भले ही वहाँ के लोग पेशेवरों को इज्जत दें, लेकिन समझते तो बाहर वाला ही हैं। हम तो दोनों जगह ही मन से नहीं स्वीकारे जाते।

यहाँ पर कई-कई बार तो बाहर के लोगों को हटाकर स्थानीय लोगों को रखने की बात चली, हर बार लगता था अबकी बार तो नौकरी पक्का जाएगी। लेकिन हर बार तकनीकी लोगों को छोड़ दिया जाता है। देखो कब तक चलता है ऐसा। खैर अपने दर्द अपने हैं। बदलते वक्त के साथ इनको झेलने की क्षमता भी बढ़ गयी है। आप भी किसी ऐसी स्थिति से दो चार हुए होंगे।

बाकी भारत के नागरिक, अपने ही देश मे प्रवासी कैसे हुए? लगता है प्रवासी की परिभाषाएं बदलने लगी हैं। ■

अनुपमा दीक्षित
उत्तर भारत में जन्म। भारत, वेस्ट इंडीज़ और अमरीका में अध्ययन। पीएचडी। पिछले कई दशकों से अमरीका की वाशिंगटन और सेंट लुइस विश्वविद्यालयों में 'पर्यावरण और स्वास्थ्य' क्षेत्र में शोध कार्य के बाद अब अवकाश प्राप्त। सम्प्रति - अहिन्दीभाषियों को हिन्दी भाषा का शिक्षण और स्वतन्त्र लेखन तथा अमेरिका में निवास।
सम्पर्क : dixita4@gmail.com

अमेरिकी हो गये भारतीयों का द्वंद्व

आज चाहे विज्ञान, चिकित्सा, व्यापार आदि कोई भी क्षेत्र हो वहाँ विदेशी धरती में जन्मी पहली पीढ़ी के सफल व्यक्ति मिल जाएँगे। बहुत से लोगों ने अन्तर्जातीय विवाह भी किये। धीरे-धीरे प्रवासियों की संख्या में वृद्धि होने से अब भारतीय मूल के लोगों में परस्पर विवाह का चलन बढ़ा है।

अमेरिकन महाद्वीप में भारतीय दक्षिण एशियाई लोगों का आगमन विशेषकर १९वीं सदी से आरम्भ हो गया था जिनमें स्वामी विवेकानन्द, सुभाषचन्द्र बोस, स्वामी रामतीर्थ व स्वतंत्रता संग्राम और गदर से जुड़े अनेक व्यक्ति शामिल थे। बीसवीं शताब्दी के छठे-सातवें दशक में अमेरिकन नीतियों में बदलाव होने के कारण बहुत से लोग उच्च शिक्षा हेतु अमेरिकन महाद्वीप में पहुँचे और फिर स्वेच्छा से या परिस्थितिवश यहीं बस गए। तभी से लोगों का भारत से आना छुटपुट चलता रहा। नब्बे के दशक के बीच से भारतीय अर्थव्यवस्था की नीतियों में परिवर्तन आने से मानो भारत व अमरीका दोनों के द्वार जैसे खुल गए। वर्ष २००० में 'वाई-टू-के' यानि 'वर्ष २००० से सम्बंधित' कार्यों को पूरा करने के लिए दक्षिण एशियाई लोगों को बुलाया गया, जिनमें अधिकतर टेक्निकल लोग थे। उनमें से कुछ फिर यहीं बस गए। अब उत्तम भविष्य की आशा लेकर भारत और अन्य देशों से बहुत युवा छात्र पिछले १०-१५ सालों में १२वीं पास करके अमेरिकन विश्वविद्यालयों में दाख़िला ले रहें हैं। इनको आर्थिक सहायता भी अपने परिवारों से मिलती है। कुछ यहीं रच-बस जाते हैं और अन्य को स्वदेशी कम्पनियाँ वापस बुला लेती हैं। इन युवा छात्रों का भारतीय प्रवासियों से अधिक परिचय व समन्वय नहीं हो पाता।

प्रवासियों की प्रत्येक नयी पीढ़ी अपने साथ बहुत कुछ नवीन लेकर आयी परन्तु उसके लिए चुनौतियाँ भी अलग-अलग रहीं। चालीस-पचास वर्ष पहले विद्यार्थी बनकर अमेरिका आने वाली पीढ़ी को शुरू-शुरू में बहुत संघर्ष करना पड़ा। इसका सजीव चित्रण झुम्पा लाहिड़ी ने अपने उपन्यासों 'द नेमसेक' और 'लो-लैण्ड' में भी किया है। एक ओर जीवनशैली, खान-पान आदि की विभिन्नता, अकेलापन और दूसरी ओर भारत व अन्य भारतवंशियों से संपर्क की कठिनाई। छोटे शहरों में पीछे छूटे परिवार से पत्र व्यवहार ही संपर्क का एक मात्र साधन था। दक्षिण एशियाई मूल के

लोगों की जनसंख्या बढ़ने पर व्यापारियों की संख्या बढ़ी, जिनका आगमन पहले से पहुँचे रिश्तेदारों की स्पॉन्सरशिप पर आधारित था। महानगरों से आरम्भ होकर भारतीय भोजन सामग्री, साड़ियों, इलेक्ट्रॉनिक सामान की दुकानें व रेस्टोरेंट इत्यादि हर यूनिवर्सिटी वाले शहर में खुलने लगे। अस्सी-नब्बे के दशक तक मंदिर, मस्जिद व कम्युनिटी/सॉंस्कृतिक सेंटर आदि भी बनने लगे, जिनको बनाने में बीसवीं शताब्दी के मध्य में आने वालों का बहुत योगदान रहा। यह वह पीढ़ी थी जिसने प्रयास किया कि अमेरिका में जन्म लेने व पलने वाली सन्तानों को यानी भावी पीढ़ी को यथासंभव भारतीय संस्कार भी दिये जा सकें। बाहर से आनेवालों का सामाजिक ज्ञान चूँकि शुरू में सतही ही होता था एवं नए समाज के तौर तरीकों को भली प्रकार जानने में समय लगता है इस कारण बहुत से प्रवासी परिवारों के लिए प्रारम्भिक समन्वय कठिन था।

छात्रवृत्ति पर आने वालों के लिए पूर्ण परिवार के भरण-पोषण की आर्थिक समस्या भी थी। धीरे-धीरे भारतीय मूल के प्रवासी अमेरिकन समाज में रचते-बसते गए और अपने-अपने क्षेत्रों में पहचान बनाने लगे। अब यह पीढ़ी रिटायर्ड या रिटायरमेंट की ओर अग्रसर हो रही है और वृद्धावस्था की चुनौतियों का सामना कर रही है।

अमेरिका में पलने व शिक्षा ग्रहण करने वाली हमारी पहली युवा पीढ़ी को पश्चिमी सँस्कृति से प्रत्यक्ष परिचय व अनुभव का लाभ प्राप्त हुआ जो समाज में सफल होने के लिए अत्यंत आवश्यक है। आज चाहे विज्ञान, चिकित्सा, व्यापार आदि कोई भी क्षेत्र हो वहाँ विदेशी धरती में जन्मी पहली पीढ़ी के सफल व्यक्ति मिल जाएँगे। बहुत से लोगों ने अन्तर्जातीय विवाह भी किये। धीरे-धीरे प्रवासियों की संख्या में वृद्धि होने से अब भारतीय मूल के लोगों में परस्पर विवाह का चलन बढ़ा है। चूँकि भारत व अमेरिकन समाज के सामाजिक मूल्यों में अंतर तो है ही।

वर्ष २००० के आरंम्भ से जो नए प्रवासी प्रोफेशनल हैं और कांट्रेक्टर के रूप में अमेरिका में पधारें हैं उनके अनुभव भिन्न हैं। एक तो पति-पत्नी को शुरू से ही अच्छी तनख़्वाह वाली प्राइवेट संस्थानों में अस्थायी नौकरी मिल जाती है इस कारण संघर्ष कम रहता है। वे अधिकतर अपने जैसे विदेशी लोगों के साथ ही काम करते हैं और उनके साथ ही रहते हैं। किसी भी शहर में चले जाएँ वहाँ बहुत सी कॉलोनियाँ ऐसी भी हैं जिनमें अधिकतर भारतीय मूल के लोग रहते हैं। इन लोगों को स्थानीय लोगों के साथ, जिसमें पुराने भारतीय बुज़ुर्ग भी शामिल हैं, अधिक घुलने-मिलने का अवसर नहीं मिलता। उनके माता-पिता भी अमेरिका बच्चों की देखरेख के लिए आते-जाते हैं इस कारण प्रवासी होते हुए भी वे पूर्ण रूप से भारत से जुड़े हैं। इनके बच्चे भी अपनी मातृभाषा, हिंदी, बंगाली, कन्नड़, तेलगु, तमिल, मलयालम आदि, नाना-नानी या दादा-दादी से सुलभता से सीख लेते हैं।

संक्षेप में प्रवासियों की हर नयी पीढ़ी ने अपने से पहले आये स्वदेशियों द्वारा बने संसाधनों एवं सद्‌भावना की नींव पर अपना बसेरा बनाया है। आज अमेरिका के अनेक छोटे बड़े नगरों में मंदिर, मस्जिद व गुरुद्वारे मिल जायेंगे जिनके लिए नवीनतम प्रवासियों को अधिक प्रयास नहीं करना पड़ा। लेकिन भाषा, जाति या धर्म पर आधारित गुटबाज़ी के साथ-साथ सामाजिक कुरीतियों का भी आगमन हुआ है। अमेरिका में भी कई संस्थायें बनी हैं जो दक्षिण एशियाई लोगों में जागरूकता फैलाने व समाजसेवा का कार्य करतीं हैं।

बचपन में हिंदी के कोर्स में आचार्य श्रीरामचन्द्र शुक्ल का निबंध 'हमारे कर्त्तव्य व अधिकार' पढ़ा था जिसके अनुसार हम अपने अधिकारों के प्रति जागरूक तो अवश्य हों किन्तु साथ-साथ कर्त्तव्यों को अनदेखा नहीं करें। भविष्य ही बतायेगा कि प्रवासियों की नयी पीढ़ियाँ क्या वृद्ध प्रवासियों का संबल बनेगीं? क्या ऐसी सोच रखना या अपेक्षा करना सही भी है या नहीं? प्रवासियों के सामने आज ऐसे कई ज्वलंत प्रश्न खड़े हैं जिन पर परस्पर संवाद शीघ्रातिशीघ्र आवश्यक है। वैसे तो अमेरिकन जीवन शैली ऐसी है जिसमें ऑफिस, घर बाहर की आवश्यकताओं, बच्चों के पाठ्येतर कार्य आदि को पूर्ण करने में ही समय बीत जाता है, फिर प्रत्येक माता-पिता की इच्छा होती है कि सप्ताहांत में स्वयं एवं बच्चों को हमउम्र साथ मिले। कहीं जीवन की इस आपाधापी में विभिन्न पीढ़ियों में पारस्परिक संपर्क का मौका तो छूट नहीं रहा? इसी तथ्य पर विचार-विमर्श करने की आवश्यकता है।■

शुभ्रा ओझा

गोरखपुर में जन्म। जीव विज्ञान में परास्नातक की उपाधि प्राप्त की। हिंदी साहित्य में लगाव के अलावा साहित्य के विविध आयामों की खोज में संलग्न। कविताएँ लिखती हैं तथा रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। सम्प्रति - शिकागो में निवास।

सम्पर्क : pummyraj.ojha@gmail.com

मन की बात

दूर तुझसे नहीं हूँ माँ

आज भारत में अधिकतर युवा अमेरिका जाने और वहाँ बसने के सपने देखता हैं। हो भी क्यों ना, अमेरिका को अवसरों की भूमि यूँ ही नहीं कहा जाता। लेकिन अथक प्रयास, कड़ी मेहनत और धैर्य होना यहाँ भी ज़रुरी है। इन तीनों के अभाव में यहाँ भी सफल होना मुश्किल है।

अमेरिका एक भागती दौड़ती दुनिया, अपने में मस्त, किसी के लिए ना रुकने वाली, नशे में धुत लोग, यहाँ की सड़कों पर अश्लीलता में लिप्त युवा, विशाल गगनचुंबी इमारतें और एक ऐसी जगह जहाँ पहुँचने के बाद आपको कुछ करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती, एक सुनहरा भविष्य आपका इंतज़ार करता है... हमारा सिनेमा भारतीय दर्शकों को अमेरिका का बस यही रूप दिखाता है।

एक ऐसी ही धारणा को लेकर मैं भी अमेरिका आयी। लेकिन यहाँ पहुँचकर सिनेमा से भिन्न एक अलग ही दुनिया देखने को मिली। अमेरिका एक ऐसा देश है जहाँ अनेक देशों के, अनेक धर्मों को मानने वाले अलग-अलग भाषाएँ बोलने वाले और हमारे और आपके जैसी भावना रखने वाले बहुतेरे लोग रहते हैं। यहाँ चर्च भी देखा और मंदिर भी, भगवान भी दिखे और यीशु भी। पर सभी जगह अपने-अपने धर्म और आस्था को मानने का समभाव दिखाई दिया। इस दरम्यान शिकागो में श्रीस्वामी नारायण मंदिर जाना हुआ। मंदिर का परिसर बहुत ही बड़ा और भव्य था। दीवारों पर की गयी कलाकारी देखते ही बनती थी। पूरा मंदिर सफ़ेद मार्बल से बना हुआ है। मंदिर में घूमते हुए ये सोचना मुश्किल था कि यह शिकागो में स्थित है।

अमेरिका में भारतवंशियों की संख्या भी बहुत है। यहाँ ऐसी कोई भी जगह नहीं होगी जहाँ आपको भारतीय ना

श्री स्वामी नारायण मंदिर, शिकागो

अमेरिका में भारतीय परिवार सभी त्योहारों को बहुत उल्लास के साथ मनाते हैं, चाहे वो दीवाली हो, होली हो या दशहरा।

मिलें। भारत के हर कोने के लोग यहाँ बहुत ही प्यार से रहते हैं। मैं मूलतः उत्तर प्रदेश से हूँ और मेरे घर के पास ही कई परिवार हैं, जिसमें से एक महाराष्ट्र, केरल और एक हैदराबाद से है। इसमें से सभी की मातृभाषा अलग-अलग है, लेकिन आपस में सभी हिंदी में ही बात करते हैं। हिंदी सभी भारतीयों आपस में जोड़ती है।

अमेरिका में भारतीय परिवार सभी त्योहारों को बहुत उल्लास के साथ मनाते हैं, चाहे दीवाली हो, होली हो या दशहरा। अक्सर ही यहाँ दशहरा पर्व पर स्थानीय मंदिरों में रावण दहन और रामलीला का आयोजन किया जाता है, जिसमें सभी भारतवंशी अपने पूरे परिवार के साथ सम्मिलित होते हैं। छोटे-छोटे बच्चों के द्वारा रामलीला का मंचन बहुत मनोहारी होता है। अमेरिका में रहते हुए भारतीय परम्परा और संस्कार को अपने बच्चों में प्रवाहित करने की सबसे बड़ी जिम्मेदारी भारतीय अभिभावको में होती है। यहाँ सालों से रह रहे भारतवंशी चाहते हैं कि अगर उनके बच्चे विज्ञान को जानें तो वहीं दूसरी तरफ राम को भी जानें और रामायण को भी पहचानें। यहाँ रह रहे भारतीय भारत से दूर रहते हुए भी भारत को अपने दिल में बसाये रखते हैं।

यहाँ अभिभावक अपने बच्चों को लेकर बहुत सजग हैं। वे पढ़ाई के साथ ही नृत्य, गायन-वादन जैसी कला को अपने बच्चों में देखना चाहते हैं। मुझे लगता है इसका एक ही कारण है कि वे बच्चों की परवरिश में भी हम भारतीय होने की झलक देखना चाहते हैं। अभिभावकों के मन में एक कशमकश चलती रहती है अपने बच्चों को लेकर कि वो कैसी परवरिश करें। क्योंकि वो अमेरिका में रहना तो चाहते हैं, लेकिन बच्चों को अमेरिकन नहीं बनाना चाहते।

आज भारत में अधिकतर युवा अमेरिका जाने और वहाँ बसने के सपने देखते हैं। हो भी क्यों ना, अमेरिका को अवसरों की भूमि (land of opportunity) यूँ ही नहीं कहा जाता। लेकिन अथक प्रयास, कड़ी मेहनत और धैर्य होना यहाँ भी जरुरी है। इन तीनों के अभाव में यहाँ भी सफल होना मुश्किल है। अमेरिका में आपको सभी काम खुद ही करने पड़ते हैं। चाहे वो गाड़ी में पेट्रोल डालना हो या अपने घर के लॉन में घास काटनी हो। यहाँ आप ही अपने घर के बादशाह भी हैं और गुलाम भी हैं।

भारत से ज्यादा काम यहाँ करना पड़ता है, लेकिन डॉलर के मोह से बाहर नहीं निकल पाते हैं। लोग सालों साल घर और बाहर की मजदूरी करते हुए अपने घरवालों से कहते नहीं थकते 'मैं बहुत खुश हूँ।' अब घर की रोजी रोटी चलानी है तो देश क्या और विदेश क्या। यहाँ सारी चीज़ें मिल जाती हैं चाहे वो देशी हो या विदेशी। बिजली रहती है २४ घंटे, सड़कें भी साफ-सुथरी, एक बेहतर जीवन जीने के लिए सभी साधन उपलब्ध हैं। फिर भी परदेश में जो सबसे ज्यादा आती है वो है 'माँ'। अन्त में बस एक ही पुकार स्मरण आती है- दूर तुझसे होके भी दूर नहीं हूँ तुमसे माँ।■

डॉ. शैलजा सक्सेना

मथुरा में जन्म। दिल्ली विश्वविद्यालय से बी.ए. ऑनर्स, एम.ए., एम.फिल तथा पी.एच.डी.। विश्वविद्यालय में सर्वोच्च स्थान तथा स्वर्ण पदक। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कहानी, कविताएँ तथा लेखों का प्रकाशन। सरस्वती तथा मैथिलीशरण गुप्त पुरस्कार से सम्मानित। कनाडा में हिंदी राइटर्स गिल्ड की संस्थापक निदेशिक। काव्य संग्रह *क्या तुम को भी ऐसा लगा?* प्रकाशित। इंटरनेट पत्रिका 'साहित्य कुंज' में सहयोग। सम्प्रति - टोरोंटो, कनाडा में निवास।

सम्पर्क : shailjasaksena@gmail.com

डायरी

रोजनदारी की बातें

(अमरीका में रहने वाली भारतवंशी महिला की डायरी के अंश। सहज भाव से जिया हुआ, भोगा हुआ, बिना लाग-लपेट के लिखा हुआ, एक साधारण प्रवासी का जीवन! ये पन्ने प्रवासी जीवन के उलटफेर और खोने-पाने को उजागर कर रहे हैं।)

मई ६, २०००

आज जीवन का एक नया अध्याय शुरू होने जा रहा है। दोनों छोटे बच्चों के साथ हम मिशीगन आ गये हैं। इनको यहाँ एक कम्पनी में काम मिल गया है और मैं अपनी नौकरी छोड़ कर, सब के उज्ज्वल भविष्य का सपना ले कर आयी हूँ। आठ साल के सुहास और चार साल के नीलेश के साथ नौकरी के कारण बिल्कुल समय नहीं मिल पाता था। नौ से पाँच की नौकरी और फिर आना-जाना, सब मिला कर खूब थक जाती थी। फिर घर पर आते ही घर के काम! कुछ देर भी बच्चों के साथ बैठना नहीं हो पाता था। बुरा भी लगता था कि सारा दिन मम्मी जी बच्चों को सँभाल कर थक जाती थीं पर क्या करो। अब यहाँ मैं पूरा दिन बच्चों को दे पाऊँगी। पार्कों में घुमाऊँगी, स्विमिंग ले जाऊँगी और सुहास को तो म्यूज़िक क्लास भी शुरू करवा दूँगी। यहाँ बच्चों के लिये इतनी सुविधायें देखकर तो मन झूम उठा है। साफ-सुथरे शहर, साफ़-सुथरे लोग! वहाँ कभी बच्चों को पार्क में ले भी जाओ तो झूले पर बिठाने के लिये ही बच्चे को दस मिनट इंतज़ार करना पड़ता था... अब बच्चों की खूब मस्ती रहेगी... और हमारी भी तो..!

जून १५, २०००

बस, एक ही बात बहुत बुरी है यहाँ, सारे काम... यानि सारे काम... टॉयलेट सफाई तक... खुद ही करने पड़ते हैं। अपनी कामवाली बाई और प्रेस वाला भइया बहुत याद आ रहे हैं।

सितम्बर १७, २०००

आज सुहास और नीलेश पहले दिन नये स्कूल गये। खूब अच्छे टीचर हैं उनके। यहाँ इतने अच्छे सरकारी स्कूल हैं कि प्राइवेट स्कूल में जाने की बात बहुत कम और बहुत ज़्यादा ही पैसे वाले लोग सोचते हैं वरना सब फ्री के सरकारी स्कूल, हाईस्कूल तक! भारत में लोग बेकार ही डरा रहे थे कि यहाँ रेसिज़्म है, मुझे तो ऐसा नहीं लगा! सब लोग बहुत अच्छे से, अपने से आगे बढ़कर ही बात करते हैं, वहाँ कौन ऐसा करता था? क्या वहाँ लोग ऊँच-नीच की बातें नहीं करते थे? अमीर-गरीब का अंतर कितना अधिक है वहाँ पर! कोई घायल हो जाये तो लोग उसे उठाकर अस्पताल तक न लेकर जायें वहाँ, यहाँ कम से कम मदद करने को लोग खड़े तो हो जाते हैं!

दिसम्बर २०, २०००

आजकल लोग कहीं नहीं दिखाई देते। सुबह कारें चली जाती हैं, शाम को आकर खड़ी हो जाती हैं, सड़कें, पार्क सब

ये खबर सुन कर बहुत बुरा लगा। नीता की शादी टूट गयी। आठ साल में मेहनत से बनाया गया एक घर और परिवार बिखर गया। दो बच्चे हैं उनके... पर समीर को यहाँ की ही कोई लड़की भा गयी है, नीता से कहा कि हमारे बीच कम्पैटिबिलिटी नहीं है, सो अलग होना ही अच्छा!

अकेले हो गये हैं। आपसी प्रेम भी कई बार ठंड में जमा लगता है। घर की याद खूब आ रही है। धूप में बैठ कर मूँगफली और तिल के लड्डू खाना! रज़ाई में घुस कर देर रात तक गपियाना। और आजकल तो शादियों का मौसम शुरू हो गया है। दो शादियाँ हैं इस साल, मैं मिस कर दूँगी। ये बहुत बिज़ी हैं सो जाना हो नहीं पायेगा। अमरीका को चिन्ता है कि सन् २००० बदलते ही कहीं सारे सॉफ्टवेयर क्रैश न कर जायें... बहुत फिक्र है सबको, इसी से सारे आईटी वालों की पूछ-परख चल रही है। हम भी तो इसीलिये यहाँ आये हैं।

दिसम्बर २४, २०००

कल रात पहला स्नो-स्ट्राम (तूफान) आया। बर्फ से सब कुछ ढ़ँक गया है। पर बर्फ होने पर आज बच्चे निकल आये हैं और खूब मस्ती कर रहे हैं, 'ह्वाइट क्रिसमस' की खुशी भी है। यहाँ के लोग सच में खुश होना, मस्ती करना जानते हैं, अपने यहाँ तो 'सर्दी न लग जाये, ज़ुकाम न हो जाये' का डर दिखा कर हमें घर में ही बिठा देते थे। यहाँ बर्फ के कारण न काम बंद होता है और न मस्ती करना। सुहास और नीलेश ने भी 'स्नो-मैन' बनाया और खूब खुश हुये। साथ वाले घर की महिला ज़बरदस्ती बच्चों के लिए हॉट चॉकलेट और हम दोनों के लिये कॉफी बना लायीं। मुझे लगता है कि हम लोग ही पता नहीं किस कॉम्प्लैक्स में जीते हैं जो इन लोगों से घुलमिल नहीं पाते।

मार्च १०, २००१

आज पहली बार यहाँ मंदिर में होली खेली। जब से यहाँ आये थे, तरस ही गये थे। अपार्टमेंट में कार्पेट होने के कारण बच्चों को बाथरूम में ले जाकर गुलाल के टीके लगा देते थे... ऐसे भी कोई होली होती है? कितने सारे भारतीय आये! हम सब लोग स्वतंत्रता दिवस, गणतंत्र दिवस, दीपावली सब मनाते हैं पूरे मन और लगन से! हिन्दी, तबले और नृत्य की क्लासें होती हैं मंदिर में। आजकल सुहास तबला सीख रहा है और नीलेश ने पिआनो सीखना शुरू किया है! दोनों बच्चे हिन्दी के साथ, वेदमंत्र आदि भी सीख रहे हैं। बहुत खुशी होती है कि अपनी भाषा और संस्कृति को भूलेंगे तो नहीं।

दिसम्बर २१, २००१

सितम्बर नौ को वह भयानक कांड हुआ और अमरीका हिल गया। एक अविश्वास, असुरक्षा, डर बैठ गया है सबमें। नौकरियों की भी बहुत मुश्किल आ गयी है। पूरा जॉब-मार्किट फ्रीज़ हो गया है। कितनी ही कम्पनियों में से लोगों को निकाला जा रहा है। पिछले चार महीने में हमारे जान-पहचान के तीन लोग अपनी नौकरी खो चुके हैं। मिस्टर खुराना तो वापस भारत जाने का सोच रहे हैं! उनके बच्चे छठी और आठवीं में हैं, बहुत परेशान हैं कि भारत जाने पर स्कूल में एडमिशन कैसे होगा पर क्या करें लगभग तीन महीने से नौकरी ढूँढ रहे हैं। नौकरी के बिना यहाँ रहना बहुत मुश्किल है, पचीसों खर्चे और छोटी नौकरियाँ करना कि गैस स्टेशन पर खड़े हो जाओ या दुकानों में कैश रजिस्टर पर खड़े रहने की उनकी इच्छा नहीं है। पर कोई न कोई रास्ता तो निकलेगा ही... जिन्होंने हिम्मत कर के देश छोड़ा, हिम्मत छोड़ने का विकल्प उनके पास नहीं है! भारत में इस बात को कोई समझ सकता है क्या?

फरवरी ९, २००२

हर जगह शक और डर का वातावरण है। सुना किसी शहर में किसी सरदार जी की लंबी दाढ़ी देख कर उन पर शक किया गया और पीट-पीट कर अधमरा कर दिया गया। पहले अफ्रीकी लोगों के साथ का दुर्व्यवहार सुनते थे... अब तो वह बहुत कम हो गया है... पर इस घटना ने अब एक नये किस्म का डर पैदा कर दिया है। आगे बढ़ती सभ्यता और संस्कृति एक झटके से रुक गयी है... कितने ही साल जैसे पीछे को लौट गये हम। इस दुनिया को कभी कोई हिटलर, कभी कोई स्टालिन तो कभी कोई ओसामा पीछे के तरफ ही धकियाते रहते हैं, पर ज़िंदगी फिर चल पड़ती है... चाहे कुछ समय के लिये गिरते-पड़ते ही।

जून ७, २००२

आज एक बहुत बुरी खबर पता लगी, मन दुखी हो गया। वैडिंग एनीवर्सिरी है आज हमारी, पर ये खबर सुन कर बहुत बुरा लगा। नीता की शादी टूट गयी। आठ साल में मेहनत से बनाया गया एक घर और परिवार बिखर गया। दो बच्चे हैं उनके... पर समीर को यहाँ की ही कोई लड़की भा गयी है, नीता से कहा कि हमारे बीच कम्पैटिबिलिटी नहीं है, सो अलग होना ही अच्छा! 'तुम चाहो तो यहाँ रहो या इंडिया चली जाओ, मैं महीने का खर्च दे दिया करूँगा।' इतने साल से कम्पैटिबिलिटी थी? नीता शॉक में है... क्या कहे और क्या करे? अपनी अच्छी-खासी जॉब छोड़ कर समीर के साथ यहाँ आयी थी, अभी तो उसका ग्रीन कार्ड भी नहीं हुआ तो नौकरी भी कैसे करे! देखो क्या होता है! मेरे साथ यह हुआ तो मैं क्या करूँगी! काम के सिलसिले में इतनी-इतनी देर जब घर से

बाहर रहना पड़ता है तो पति-पत्नी, दोनों में ही दूरी आ जाती है। ऐसे में संबंध कितनी देर टिकेंगे, कौन जानता है?

सितम्बर १०, २००३

वहाँ नौकरी के छूटने का ऐसा हर समय का डर नहीं होता, यहाँ तो हर समय सिर पर तलवार लटकी रहती है... पर इस सच को कोई कैसे बताये। 'इनकी भी नौकरी छूट गई थी।' दो महीने घर पर रहे... नौकरी ढूँढते बेहाल हो गये तब जाकर मिली पर कम वेतन पर... घर खर्च भी इतने हैं... भारत में भी किसी को क्या बताते! सच न बताने की भी कितनी पीड़ा होती है। और उधर वो उड़ीसा से आई हुई चेतना के माता-पिता हैं कि उसकी नौकरी चली गई है, जानकर भी उस से हर महीने पैसे मँगाते रहते हैं। पता नहीं भारत में लोगों को क्यों लगता है कि यहाँ पर लोग कल्पवृक्ष के नीचे बैठे हैं, पेड़ हिलाओ और रुपये बरसने लगेंगे। वो बहुत परेशान रहती है... जिस घर को सुखी करने के लिये वह यहाँ दुख झेल रही है, वे उसके अपने भी उसे दुखी बनाने में कसर नहीं छोड़ रहे।

अप्रैल २५, २००४

चार साल बाद भारत होकर आये। कितनी तैयारी की थी, सब के लिये ढेरों सामान लिया,.. टिकट और सब खर्चा करते-करते बचत भी आधी ही रह गई और उस पर भी ऐसा नहीं लगा कि सब बहुत खुश थे हमारी गिफ्ट से। एक और मज़े की बात, ये दोनों बच्चे तो हिन्दी में बोल रहे थे पर रिश्तेदारों और पास-पड़ौस के बच्चे ज़्यादातर अंग्रेज़ी ही बोलते सुनाई दिये। नीलेश और मैं ४-५ दिन को बीमार भी पड़ गये थे। बीमार होने पर भी यही सुनाया गया- 'भई फॉरेन-रिटर्न हैं, अब यहाँ का हवा-पानी क्यों सही लगेगा।' बहुत बुरा लगा!

मई १७, २००६

आज मैंने यहाँ ह्यूमन रिसोर्सेज़ मैनेजमेंट का डिप्लोमा ले लिया। दो साल लग गये पर अब यहाँ कुछ काम तो कर सकूँगी। बच्चे भी बड़े हो ही गये हैं, दुनिया को देखते हुये सरल हैं, भारत के बच्चे तो इन्हें बेच खायें। मैं खुश हूँ कि आजकल दोनों कार्यक्रमों में स्टेज पर पियानो और तबला बजाने लगे हैं।

जुलाई २१, २००६

नौकरी मिल गई है। बहुत अच्छा लग रहा है, कोर्स करने में बहुत मेहनत की, दिनभर घर के काम और शाम को ६:३० से रात ९:३० की क्लासें... फिर होमवर्क, इम्तहान आदि! बहुत से लोग यहाँ नौकरी के साथ-साथ ऐसे कोर्स कर के या तो अपने को अपडेट करते हैं या कैरियर बदल लेते हैं। बहुत मेहनत करते हैं यहाँ के लोग...! पता नहीं अपने देश में अमरीका को भोग-विलास की छवि बनाकर ही क्यों पेश करते हैं? यही मेहनत करने का रवैया भारतीयों का हो जाता तो हमारा देश बहुत सुखी हो जाता। ये लोग जी तोड़ मेहनत करना जानते हैं तो मस्ती भी बुढ़ापे तक करते हैं! यह नहीं कि पचास के ऊपर हुये नहीं कि अब क्या करना हमका - का भाव लेकर बैठ गये! मुझे अच्छा लगता है इनका खुलकर यूँ जीना! काश! हम अपने अच्छे मूल्यों के साथ इनके अच्छे मूल्यों को अपना सकते!

दिसम्बर ५, २००६

हम लोग एक चैरिटी संस्था से जुड़ गये हैं जो भारत में बच्चों को पढ़ाने के लिये गाँवों और देहातों में अध्यापक भेजती है- 'एकल'! यहाँ हर बच्चे को हाईस्कूल के पास करने का सर्टिफिकेट ही तब मिलता है जब वह कम से कम चालीस घंटे का 'वालिंटियर' काम कर लेता है। शुरू से ही इस तरह के काम करने की आदत डाल दी जाती है और बच्चे पढ़ाई के साथ नौकरी भी सोलह साल की उम्र से करने लगते हैं। ज़िम्मेदारी सिखाने की प्रक्रिया बहुत पहले से शुरू कर दी जाती है। जो ज़िम्मेदारी सीखता है, वह निर्णय भी खुद लेना चाहता है, बस वहीं हम भारतीय डर जाते हैं कि बच्चे हाथ से बाहर जा रहे हैं... मैं भी तो कभी-कभी डर ही जाती हूँ!

सितम्बर १२, २००७

भारत से बहुत बुरी खबर मिली। मेरी सहेली के परिवार में एक लड़की को दिन दहाड़े सड़क से उठाने की कोशिश की गई, उसका भाई उसके साथ था, उसने जब गुंडों को रोकने की कोशिश की तो उन्होंने उसे चाकू मारा, लड़की ने भी बहुत संघर्ष किया और किसी तरह से अपने को उठवाये जाने से बचा लिया। दोनों भाई-बहन बहुत घायल हो गये। पुलिस में रिपोर्ट लिखाई है पर कार्यवाही की उम्मीद कम है क्योंकि पता चला है कि किसी एमएलए का हाथ है सिर पर! सुनकर मन दहल गया, विद्रोह करता है! मुसीबत की जड़ हमारी यही कानून व्यवस्था है। आम आदमी को न्याय नहीं! इस देश में भी भ्रष्टाचार है पर ऐसे निचले स्तर पर नहीं... बड़े-बड़े आदमी, अपने धन को लेकर घोटाले करते हैं पर आम आदमी के रोज़मर्रा के जीवन पर उसका असर नहीं पड़ता, पुलिस घूस नहीं खाती, तू-तड़ाक नहीं करती और इस तरह की लड़की उठाने जैसी घटनायें एक तो होती नहीं और अगर होती हैं तो पुलिस पूरी कोशिश करती है अपराधी को ढूँढने की। इंसान को क्या चाहिये... खाना, छत और सुरक्षा! पर सच में सोचो तो सुरक्षा कहाँ है?

जुलाई १५, २००८

आज मिसेज़ खन्ना के बेटे की शादी थी। लड़की अमेरिकन ही है। लँहगे में खूब प्यारी लग रही थी और

शादी के बाद जब आकर उसने पंडित जी और बड़ों के पाँव छुये तो मन निहाल ही हो गया। मिसेज़ खन्ना बहुत खुश हैं... पिछले चार साल से नैंसी को देख-जान रही हैं। कह रही थीं कि उनकी बड़ी बहन तो भारत में अपनी बहू के गुरूर सँभालते-सँभालते ही परेशान हो गई हैं पर नैंसी बहुत सरल और सीधी है। भगवान करे, यह शादी चले... आजकल यहाँ-वहाँ सब जगह तलाक की सुन-सुन कर जी परेशान होता है। वैसे सच में, इंसान का अच्छा-बुरा होना उसकी नागरिकता नहीं, उसका व्यवहार तय करता है।

अक्टूबर ८, २००९

इतना बुलाने के बाद पहली बार इनके माता-पिता यहाँ आये हैं। बहुत अच्छा लग रहा है। तीन महीने को ही आये हैं पर चलो, आये तो सही! मेरे साथ काम करने वाली डॉना पूछ रही थी एक-दो हफ्ते तो ठीक पर तीन महीने? मैं उन्हें कहाँ, कौन से होटल में रखूँगी? नहीं तो इतने दिन हमारी प्राइवेसी कैसे रहेगी? खूब हँसी आई! हम लोग तो ऐसा सोच भी नहीं सकते... हमारे यहाँ ऐसी प्राइवेसी की ज़रूरत ही नहीं होती! हमें तो उनका साथ चाहिये! बच्चे दादा-दादी के साथ मगन हैं और हम लोग दीवाली के लिये घर सजाने और पकवान बनाने में!

दिसम्बर ३०, २०११

पिछले साल हर दूसरे महीने कभी मेरा तो कभी इनका चक्कर भारत लगा। इनकी मम्मी जी जनवरी में बेहद बीमार हो गईं थीं... हम दोनों ही कई बार गये पर वो जनवरी में चली गईं। हम सब गये, पापाजी को अपने साथ लाने की कोशिश की पर वो तैयार नहीं हुए... मन बहुत परेशान रहता है, ऐसे समय पर ही दूर रहना बहुत खलता है। क्या करूँ, यहाँ बच्चे, नौकरी, फिर ये वहाँ बहुत दिनों तक रह भी नहीं सकती सो नम्बर लगा कर अब भी हम दोनों जा रहे हैं और वहाँ लोग पूछ रहे हैं कि हम सब छोड़ कर क्यों नहीं आ जाते? अकेले हो तो कर भी लो पर बच्चों की पढ़ाई, बीच मँझधार में है, कैसे करें? कोई किसी को अपनी स्थिति नहीं समझा सकता!

नवंबर २८, २०१२

नवम्बर दो को मेरे पापा को हार्ट अटैक हुआ। मम्मी-पापा अकेले ही थे तब! मम्मी ही उन्हें हॉस्पिटल लेकर गयीं। मैं यहाँ से पहुँच गई दो दिन बाद पर पापा १२ तारीख को चले गये। भैया अपने कामों में पुणे ही में फँसे रहे, बाद में आये। तसल्ली थी कि पापा ने मुझे पहचान लिया था। बच्चे बहुत दुखी हैं अपनी दादी और नाना जी के जाने से।

जनवरी ६, २०१३

दिमाग बहुत परेशान है। अभी पता लगा कि सुहास डिप्रैशन में चला गया है। कैसे हो गया यह! दिमाग सोच-सोच कर फटा जा रहा है। वो परेशान तो था, पर इतना, यह नहीं सोचा था। हम लोग एमर्जेंसी ले गये उसको तीन दिन पहले, क्राइसिस नर्स से मिले... अब इलाज चलेगा। सुना है बच्चे परेशानी में नासमझी कर जाते हैं और ड्रग्स लेने लगते हैं, भगवान का शुक्र है कि इसने ऐसा नहीं किया।

डेढ़ साल बचा है यूनिवर्सिटी का... कैसे होगा? ये समझा रहे हैं कि पढ़ाई की चिन्ता मत करो। एकाध सेमिस्टर छूट भी गया तो क्या? बात तो सही है पर पहले ही यहाँ के बच्चे छह साल से पहली में जाते हैं फिर चार साल बीए में लगाते हैं। भारत में तब तक बच्चे एमए भी कर लेते हैं। हर समय वहाँ से यही सुनती रहती हूँ कि मेरे बेटे ने यह पास कर लिया, इसके एक्ज़ाम दे रहा है। इतने का पैकेज मिला है... और फिर घूम फिर कर यह कि तुम्हारे बेटे का तो बीए हो गया होगा!

पर इसको डिप्रैशन हुआ क्यों? कुछ समझ नहीं आ रहा! पिछले कुछ समय से सब की बीमारी का सुन कर इसका मन परेशान था... ऊपर से हमारी भागदौड़ भी हमें समय नहीं दे रही थी कि हम बात कर सकें ज़्यादा। पढ़ाई भी तो बहुत है यहाँ यूनिवर्सिटी में। डॉक्टर कह रही है कि अभी कुछ समय न कुछ कहें और न पूछें। रात-रात भर नींद नहीं आती चिन्ता में। सुबह से फिर नार्मल होने की एक्टिंग करनी पड़ती है।

दिसम्बर १२, २०१५

सुहास बहुत ठीक है अब! बहुत काउंसलिंग की और डॉक्टरों ने हमें भी सिखाया कि कैसे इस स्थिति का सामना करें। उसकी बीए समाप्त हो गई! इस बार क्रिसमस की छुट्टी में हम चारों यहीं कुछ समय साथ बितायेंगे। अब तक सब छुट्टियाँ भारत जाने के लिये ही बचाते थे, इनके पापा जी ठीक हैं, बहनें बीच-बीच में आती हैं और एक पूरे दिन की नर्स भी है। मेरी मम्मी, भैया के साथ पुणे चली गईं हैं। सब अपनी-अपनी जगह ज़िंदगी के चक्र में भाग रहे हैं, कभी अकेले तो कभी साथ में। पैसे की, नौकरी की भागदौड़, तनाव सब जगह है पर यही समझ में आता है कि घर में जो वातावरण बनाया जाता है, उससे ही बच्चे बनते हैं। यही बच्चे हमारे भविष्य की दुनिया बनायेंगे। अच्छे और बुरे, अपने और पराये लोग हर जगह हैं। बहुत से लोग वहाँ संयुक्त परिवार में होकर भी एक साथ नहीं हैं और यहाँ अमरीकी लोग अलग-अलग रहते हुये भी त्यौहारों में या ज़रूरत पर अपने माँ-बाप के लिये भाग-भाग कर जाते हैं। बाकी तो जो दुनिया है और हर देश की स्थिति है वो तो है ही। कहीं भी रहो, बदलाव सब जगह ही है... समय के इन भागते पलों में से कुछ पल साथ मिल कर हँस-बोल लें, वही अपने हैं, बस।

इससे पहले कि हमारे बच्चे भी बहुत अधिक व्यस्त हो जायें, हमें एक-दूसरे को समझने और साथ होने के एहसास को हर मौके पर और अधिक गहरा करना है। ■

शकुन्तला बहादुर

अनंतचतुर्दशी १९३४ को लखनऊ में जन्म। एम.ए. (संस्कृत)। जर्मन एकेडेमिक एक्सचेंज सर्विस की फ़ेलोशिप पर जर्मनी में शोधकार्य। ट्यूबिंगेन विश्वविद्यालय में संस्कृत एवं हिन्दी का अध्यापन। महिला महाविद्यालय लखनऊ में संस्कृत प्रवक्ता। विभागाध्यक्ष एवं प्रधानाचार्या के पदों पर कार्य करते हुए सेवानिवृत्त। योरोप तथा अमेरिका की साहित्यिक-गोष्ठियों में भाग लेते हुए अनेक देशों का भ्रमण। काव्य-संग्रह- 'मृगतृष्णा' एवं 'बिखरी पंखुरियाँ', ललित निबन्ध-संग्रह- 'विविधा', संस्मरण- 'सुधियों की लहरें' प्रकाशित। सम्प्रति - कैलिफ़ोर्निया में निवास।

सम्पर्क : shakunbahadur@yahoo.com

संस्मरण

अविस्मरणीय पड़ोसी

लम्बी अवधि से हम किसी से परिचित होकर भी कभी-कभी नितान्त अपरिचित ही रह जाते हैं किन्तु कभी-कभी हमारा अल्पकालीन परिचय भी शीघ्र ही आत्मीयता और घनिष्ठता में बदल जाता है। जब किसी व्यक्ति के गुण, स्वभाव अथवा व्यक्तित्व का कोई अन्य पक्ष मन को इतना प्रभावित कर लेता है कि हम सहज ही उसकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। वर्ष १९६३ की बात है, जब मैं जर्मन प्राध्यापिका रोजमेरी शालर के साथ पश्चिम जर्मनी के ट्यूबिगेन शहर में गार्टेन श्ट्रासे पढ़ रह रही थी। एक दिन सायंकाल घंटी बजी और द्वार खोलने पर मुस्कुराते अपरिचित दम्पत्ति को खड़े देखा। तत्काल ही परिचय मिला कि मेरे ऊपर वाले अपार्टमेंट में अभी-अभी रहने के लिये आए श्रीमती एवं श्री विल्डे हमसे भेंट करने आये हैं। शालर भी उस समय तक घर आ चुकी थी, अतः हम दोनों ने ही उनका स्वागत किया और आतिथ्य भी। प्रथम भेंट में ही मुझे वह सरल स्वभाव के लगे। 'हम यहाँ रहने आये हैं तो अपने आसपास के परिवारों को हमारे विषय में और हमें उनके विषय में जानना ही चाहिये। पड़ोसी से मित्रता सुखदायी होती है- यदि स्वार्थ बीच में न आ जाये। इसीलिये हम मिलने चले आये।' उस दिन के बाद से हम लोग जब भी कभी मिलते मुस्कुराकर 'गुटेन मॉर्गेन' या 'गुटेन टाग' (गुडमॉर्निंग, गुड डे) कहना नहीं भूलते थे।

उस दिन बहुत बर्फ गिरी थी- वृक्ष भी बर्फ से ढँक गये थे। पृथ्वी पर भी बर्फ की मोटी तह जमी थी। मैं इंस्टीट्यूट से लौटी तो देखा घर के सामने के खुले हिस्से में मानव आकृति सी बन रही है। हिल्डेगार्ड और हेनरी ने दौड़कर मुझे दिखाया कि वे लोग स्नोमैन (बर्फ का आदमी) बना रहे हैं। उनकी माँ ने ऊपर की मंजिल में अपनी खिड़की से झांककर बच्चों को आवाज दी और स्नोमैन के गले में बांधने के लिये एक पुराना मफलर फेंका। दोनों आँखों की जगह दो बड़े कोयले लगवाये और मुँह में फंसाने के लिये सेब दिया। हाथ में छड़ी सी पकड़ने को कहा। थोड़ी ही देर में यह आकृति पूरी तरह सज गई थी। अपने परिश्रम को सफल देखकर बच्चे भी प्रसन्न हो गये थे और उनकी माँ भी बच्चों की उस कलाकृति को देखकर गद्‌गद् हो रही थी। अपने बच्चों को शाबाशी दे रही थी। इसी क्षण मेरे मन में विचार आया कि भारत में बादल देखकर ही हम अपने बच्चों को घर में बुला लेते हैं। पानी बरसने वाला है। भीग जाओगे। बीमार हो जाओगे। यहाँ माता-पिता अपने बच्चों को मजबूत बनाने और मनोरंजन के लिये उत्साहित भी करते हैं और मार्गदर्शन भी। पानी बरसने पर स्कूल जाने वाले हमारे बच्चे प्रायः घर में ही रुक जाते हैं और यहाँ बर्फ गिरती रहती है। फिर भी बच्चे स्कूल जाते हैं। डरकर घर में नहीं बैठ जाते। कई बार मैंने देखा था कि सड़क पर चलते हुये बच्चे चाकलेट का कागज या आइसक्रीम की डंडी तब तक हाथ में पकड़े रहते थे जब तक उसे फेंकने का कोई उपयुक्त स्थान नहीं आता था। जहाँ-तहाँ न फेंकने का पाठ उन्हें बचपन से ही पढ़ाया जाता है। सप्ताह में एक बार सफाई वाली गाड़ी आकर कूड़ा उठा ले जाती थी। सभी अपने-अपने घरों के सामने अपने ढक्कनदार बंद कूड़ेदान सबेरे ही रखकर मोटर निकालते और तब काम पर जाते थे। शाम को आकर खाली बाल्टी उठाकर घर में रख लेते थे। कभी-कभी तो पुराना फर्नीचर या और भी ऐसी प्रयोग की हुई चीजें

फुटपाथ पर रखी रहती थीं, जिन्हें सफाई वाले उठा ले जाते थे।

विल्डे परिवार बड़ा मिलनसार था। वे कभी कहीं घूमने जातीं तो मुझसे भी चलने को कह देतीं, बच्चे भी आग्रह करते। बाजार जाते समय भी प्रायः मुझसे पूछ लेतीं कि कुछ चाहिये तो नहीं? उधर से लेती आयेंगी। मैं भारत से अपने लिये चमड़े के जूते खरीद कर ले गई थी, उन्हें पहनने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी। मैंने चलने से पूर्व उनकी बेटी हिल्डेगार्ड को भेंट किये तो मुझसे मूल्य बताने का आग्रह करने लगीं। बड़ी कठिनाई से मैंने उन्हें रोक पाया था। मैंने बच्चों के पिता से कमरे, टेपरिकॉर्डर और टाइप राइटर और प्रोजेक्टर की जानकारी ली थी और उनके प्रयोग की विधि भी सीखी थी। उस समय टेपरिकॉर्डर और टीवी आदि भारत में बहुत ही कम दिखाई देते थे और वह भी कुछेक अत्यन्त समृद्ध परिवारों में ही रहते थे। रेफ्रीजरेटर भी अधिक सुलभ नहीं थे। वहाँ घरों-घरों में ये सभी वस्तुएँ सामान्य सी बात थी। कभी-कभी मैं सोचती कि पता नहीं भारत में ये सुविधायें कभी प्राप्त हो सकेंगी या नहीं?

एक दिन मैं संध्या समय श्रीमती विल्डे से मिलने उनके घर गई। बातचीत के दौरान वे लोग मेरे परिवार एवं भारत के विषय में बात करने लगे। ये समय भारत के लिये सुख-शांति का नहीं था। १९६३ में चीनी आक्रमण से संकट उपस्थित हो गया था। विल्डे ने चिंता प्रगट करते हुये कहा था- 'ईश्वर करे शीघ्र ही भारत में शांति स्थापित हो जाये, मैंने तो युद्ध की विभीषिका को देखा ही नहीं। उसके दुष्परिणामों को भोगा है, संकटों को भी झेला है, कभी भी ऐसी विपत्ति किसी देश पर न आये यही कामना करता हूँ।' सचमुच कुछ आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी व्यक्ति सत्ता लोलुप होकर जन साधारण को चक्की में पीस देते हैं। ये बहुत बड़ा अन्याय है। कितने ही परिवार बिखर जाते हैं, धन-जन की हानि होती है और सुख-शांति छिन जाती है।

विल्डे द्वितीय विश्व महायुद्ध में युद्धबंदी होकर रूस के साइबेरिया प्रदेश में लम्बे समय तक रहे थे। वहाँ के कष्टों का क्या कहना? मुँह धोने के लिये पानी की आवश्यकता होने पर बर्फ को हाथ में लेकर मलते थे, पिघल जाने पर उसे ही मुँह पर लगा लेते थे। खाने के लिये कई-कई दिन बाद सूखे, कड़े और मोटे टिक्कड़ मिलते थे, जो चबाते ही नहीं बनते थे। वस्त्रों के रूप में बोरे से लटकाये घूमते थे। अवधि की समाप्ति पर आँखों में पट्टी बांधकर उन्हें सीमा पर लाकर छोड़ दिया गया था। उस रूप में समाज में प्रवेश करने में उन्हें लज्जा अनुभव हो रही थी। पास में पैसा भी नहीं थे जो वस्त्र खरीद लेते। किसी व्यक्ति से कहकर किसी तरह अपनी पत्नी के पास जीवित लौटने की सूचना भेजी थी जो उनके पहनने के लिये कपड़े लेकर आईं और वे अपने घर पहुँचे। इस अवधि में उनकी पत्नी को उनके जीवित होने की भी जानकारी नहीं थी। यहाँ वहाँ भाग-भागकर पता करने के लिये अनथक प्रयत्न करती रहीं। कहीं-कहीं कार्य करके जीविका निर्वाह करती रहीं थीं। श्रीमती विल्डे कहती थीं कि वापस आने के बाद भी कुछ भी बात करते समय वे सदा भयभीत और आशंकित से रहते थे। इधर-उधर देखकर धीरे से कुछ भी बोलते थे। इतने वर्षों तक (रूस में) युद्ध बंदी रहते हुये उनके मन में बसी दहशत उनका स्वभाव सा बन गई थी। हर समय उन्हें लगता था कि उनके आसपास छिपा हुआ कोई व्यक्ति उनकी बात को सुन रहा है और कहीं कोई बात उनके लिये किसी नये संकट का कारण न बन जाये। बार-बार चौंक पड़ते थे और अक्सर पीछे घूम-घूमकर देखते थे कि कहीं कोई उनका पीछा तो नहीं कर रहा है? उन्हें सामान्य स्थिति में आने में बहुत समय लगा। इस बीच उनके पति चुपचाप बैठे सारी बातें सुनते रहे फिर बड़े गंभीर होकर बोले थे- 'उन दिनों मैं सोचता था कि कभी जीवित अपने देश पहुँच गया तो यही सोचूँगा कि मुझे पहनने को एक जोड़ कपड़े और समय पर खाना मिल जाये बस मैं पूरी तरह संतुष्ट रहूँगा। अपने आपको बहुत बड़ा आदमी समझूँगा।' मैं अवाक् उन्हें देखती रह गई।

समय के साथ परिवर्तन स्वाभाविक है। शान्त स्वभाव के (हेअर-जर्मन में मिस्टर के लिये प्रयुक्त होता है)। हेअर विल्डे और उनकी पत्नी ने स्वयं को पुनः जिन्दगी से जोड़ लिया था। अपने दोनों बच्चों के साथ उन्हें और भी खुशियाँ मिल गईं थीं। सामान्य जर्मन परिवारों की भांति उन्होंने भी अपने पुरुषार्थ से प्रतिकूल परिस्थितियों और निराशा को जीवन से उखाड़ फेंका था और अपनी दुनिया को ऐसी रोशनी से जगमगा दिया था कि सारा अंधेरा कहीं दूर भाग कर खो गया था।

मेरे ट्यूबिंगेन से चलने के पूर्व एक दिन विल्डे परिवार ने मुझे रात्रि भोजन पर आमंत्रित किया था। भोजन के बाद मुझे गिलास में कुछ पेय देते हुये श्रीमती विल्डे बोलीं- पीकर देखो, तुम्हें जरूर अच्छा लगेगा। मेरे मना करने पर उनका प्रश्न था कि वह अंगूर से बना है फिर मैं क्यों नहीं पी सकूँगी? मैंने किसी दिन उनसे कहा था कि मैं फल से बना पदार्थ खा लेती हूँ। इसी धारणा से उन्होंने बड़े आग्रह से ग्रेप वाइन पीने को दी थी। मुझे अपना दृष्टिकोण उन्हें स्पष्ट करना पड़ा तो वे मुस्कुरा दीं। ट्यूबिंगेन की चित्रावली पुस्तक के रूप में भेंट की। वर्षों पत्र-व्यवहार चलता रहा, बच्चे भी लिखते थे। क्रिसमस पर उपहारों का आदान-प्रदान भी होता रहा था। मेरे बच्चों के जन्म पर बधाई संदेश और खिलौनों के उपहार भी आये। उसके बाद कुछ समय तक सम्पर्क टूट सा गया था। बहुत समय तक उनका कोई पत्र भी नहीं आया था। मुझे शालर से ये सूचना मिली थी कि विल्डे कुछ अस्वस्थ चल रहे हैं, अस्पताल में हैं। दो वर्षों पूर्व श्रीमती विल्डे का खत आया था लिफाफे में एक फोटो थी। विल्डे की समाधि के सामने उनकी पत्नी और बेटे-बेटी खड़े थे। कब्र (समाधि) के चारों और बहुत से फूल लगे थे। विल्डे का मुस्कुराता चेहरा आँखों के सामने घूम गया। अल्बम निकालकर देर तक उनके परिवार के साथ खींची गई तस्वीरें देखती रही। पिछली सारी घटनाएँ चलचित्र की समान दिखाई दीं। मन स्थिर होने पर पत्र पढ़ने की याद आई। विल्डे कैंसर से पीड़ित हो गये थे, बड़े कष्ट में रहे, अंत में स्वर्गवास हो गया। उनकी पत्नी ने अपने मन का दर्द उस पत्र में बहा दिया था। कई बार पत्र पढ़ा और अनायास ही आँखों से कई अश्रु बिन्दु पत्र पर ढुलक गये।■

डॉ. वंदना मुकेश

१२ सितंबर १९६९ को भोपाल में जन्म। विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से स्नातक, पुणे विद्यापीठ से अंग्रेज़ी व हिंदी में प्रथम श्रेणी से स्नातकोत्तर एवं हिंदी में पीएचडी की उपाधि। इंग्लैंड से क्वालिफ़ाईड टीचर स्टेटस। साप्ताहिक हिंदुस्तान में पहली कविता *खामोश ज़िंदगी* प्रकाशित। भारत एवं इंग्लैंड में अनेक राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय शोध संगोष्ठियों में प्रपत्र वाचन, सहभाग और सम्मान। इंटीग्रेटेड काउंसिल फ़ॉर सोयो-इकनॉमिक प्रोग्रेस दिल्ली द्वारा महिला राष्ट्रीय ज्योति पुरस्कार. संप्रति : इंग्लैंड में अध्यापन एवं स्वतंत्र लेखन.

संपर्क: vandanamsharma@hotmail.co.uk

स्मरण

भिन्न षड्ज...

इस बार इंग्लैंड में लगभग दस वर्षों बाद ऐसी भयानक बर्फबारी हुई है। हमारे शहर वॉलसॉल में भी सड़कों पर आठ-आठ इंच बर्फ जमी थी। जिंदगी की सारी भागदौड़ पर प्रकृति ने विराम-सा लगा दिया था, यों कहूँ कि अपने-आप से बातचीत करने का एक अवसर दिया।

बर्फ की वजह से स्कूल, कॉलेज, दफ्तर आदि सभी बंद थे। बेटा बोर्नमथ में रहता है, वह घर से ही ऑफिस का काम कर रहा था। मुझे खाँसी-ज़ुकाम हो रहा था, सिर दर्द से भन्ना रहा था, आवाज़ साथ नहीं दे रही थी, सोच रही थी कि दोपहर के भोजन के पश्चात थोड़ी देर विश्राम करूँगी, लेकिन उसने जबरदस्ती बैठा लिया। बोला, 'आइये आपको एक बहुत अच्छी चीज़ दिखाता हूँ। इस बहाने हम मम्मी-बेटा साथ बैठ सकेंगे।' अस्वस्थता के बावजूद मेहमान बेटे के मनुहार भरे आग्रह को टाल नहीं सकी। वह मेरे लिये कंबल ले आया, आप बस यहीं कंबल ओढ़कर बैठ जाइये, सो मैं, बेमन से बैठ गई।

पद्मविभूषण ज्ञान सरस्वती पंडिता किशोरी अमोनकर के ८०वें जन्मदिन पर फ़िल्म अभिनेता, निर्देशक अमोल पालेकर द्वारा बनाई एक फ़िल्म को देखने के लिये। बीच-बीच में अनेक छोटे-मोटे व्यवधान हुए। लेकिन पता ही नहीं चला कि कैसे एक घंटा निकल गया। फिल्म समाप्त होने पर विस्मृत-सी अवस्था में मेरे मुख से एक ही शब्द निकला। 'अद्भुत!' किशोरी ताई का गायन, संगीत के प्रति उनकी गहन निष्ठा एवं लगन, गुरु के प्रति उनकी अगाध आस्था और समर्पण और अमोलजी के द्वारा इस विराट व्यक्तित्व को उसके सहज सौंदर्य के साथ, उसकी विशालता में प्रस्तुत करना! सभी कुछ अद्भुत! अद्भुत! साधुवाद अमोलजी! पूरा वृत्तचित्र किशोरीजी के संगीत, उनके व्यक्तित्व और उनकी सोच-प्रक्रिया पर केंद्रित था। कहीं कोई विषयांतर नहीं।

एक बार शास्त्रीय संगीत सीखने की चाहत हुई थी, प्रारंभिक पाठों में जाना कि संगीत के सात स्वर। षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत एवं निषाद। सब भिन्न होते हुए भी अभिन्न। प्रत्येक स्वर का नाद क्रमशः ऊँचा होते जाता है। इन सात सुरों को सप्तक कहते हैं। सप्तक के कुशल प्रयोग अर्थात स्वरों के मेल और उनके उतार-चढ़ाव से बनने वाली मनोमुग्धकारी सुंदर रचना को राग कहते हैं। षड्ज का हर राग में होना जरूरी है मानो वह इस खानदान के बड़े बुज़ुर्ग हों जिनकी उपस्थिति के बिना कोई कार्य संपन्न नहीं हो सकता। जो स्वर किसी राग में बार-बार आएँ उन्हें वादी कहते हैं। जो स्वर वादी से कम किंतु अन्य स्वरों की अपेक्षा अधिक आएँ उन्हें संवादी स्वर कहते हैं। मैं सोच रही थी कि यह संगीत शास्त्र है अथवा संभाषण कला?

किशोरी अमोनकर

> जन्म से मृत्यु तक न जाने कितने करोड़ छोटे-बड़े शब्द हमारे इस छोटे से मुँह से निकल जाते हैं। लेकिन क्या हम बोलने से पहले सोचते हैं? क्या कभी अपनी बात को तौलते हैं? क्या उसकी सार्थकता पर कभी विचार करते हैं?

मेरा बेटा पुलकित प्रसिद्ध तबला वादक उस्ताद सरवर साबरी का शिष्य है। भारत में जन्मा, ब्रिटेन में पला-बढ़ा, पच्चीस वर्षीय यह युवा भारतीय शास्त्रीय संगीत की विलक्षणता और आध्यात्मिक प्रभाव से इतना मोहित और चमत्कृत है कि शास्त्रीय संगीत के बड़े-बड़े कलाकारों की कला का आस्वाद लेना ही उसका शौक बन गया है। उसकी वजह से मुझे भी इन बड़े कलाकारों की पुरानी से पुरानी, दुर्लभ रिकॉर्डिंग सुनने का अवसर प्राप्त होता है। भला हो तकनीकी विकास का, यू-ट्यूब पर क्या कुछ नहीं मिल जाता। इस फिल्म को देखना एक उदात्त अनुभव से गुज़रने के समान था।

किशोरीजी की अलौकिक, भावपूर्ण गायकी को शास्त्रीय संगीत-क्षेत्र के बड़े-बड़े दिग्गजों ने एक स्वर से सराहा है। इस वृत्तचित्र में उनकी गायकी की विशेषताओं को लेकर उस्ताद ज़ाकिर हुसैन, पं. शिवकुमार शर्मा, पं. हरिप्रसाद चौरसिया, उस्ताद अमज़द अली खाँ तथा पं. सुरेश तलवलकर आदि ने सटीक टिप्पणियाँ की हैं। एक जगह पं. सुरेश तलवलकर कहते हैं 'किशोरी ताई शब्दों को एकदम सोने की तरह, तराजू में तौल कर प्रयोग करती हैं। शब्दों के ह्रस्व-दीर्घ का उच्चारण की शुद्धता, स्वरों के भीतर निहित भाव की अभिव्यक्ति आदि के प्रति वे अत्यंत सतर्क रहती हैं।'

कितनी ठोस, कितनी सटीक बात! यही तो कला है। जब गायन-सिद्धि निरंतर अभ्यास-साधना से ही प्राप्त हो सकती है तो वाचा-सिद्धि क्यों नहीं? हम मनुष्य नित-निरंतर परस्पर वार्तालाप करते रहते हैं। कितना अभ्यास होता है हमें बोलने का, कम से कम हम तो यहीं समझते हैं। जन्म से मृत्यु तक न जाने कितने करोड़ छोटे-बड़े शब्द हमारे इस छोटे से मुँह से निकल जाते हैं। लेकिन क्या हम बोलने से पहले सोचते हैं? क्या कभी अपनी बात को तौलते हैं? क्या उसकी सार्थकता पर कभी विचार करते हैं? शायद, अपनी कही बात के अंदाज़ पर, उसके नाद पर कभी हम विचार तक नहीं करते। बातचीत के इसी आदान-प्रदान में कभी-कभी कोई बात चुभ जाती है। क्यों? क्योंकि सुर बदल जाता है। जहाँ सुर बदला बस, वहीं बात बिगड़ जाती है। एक मात्रा बदल जाने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

इतिहास साक्षी है नारायण राव पेशवा की हत्या में रघुनाथराव की पत्नी आनंदीबाई की क्या भूमिका थी। जिसने 'नारायण रावासं धरावे' को बदलकर 'नारायण रावासं मारावे' कर दिया। 'ध' च 'मा' करणे यह कहावत मराठी में तब ही से प्रचलित हुई। ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जहाँ स्वर बदलने से बात बदल जाती है। अर्थ बदल जाते हैं। मूड बदल जाता है। संप्रेषणीयता बाधित होती है।

किशोरी ताई के विषय में तलवलकरजी की उपरोक्त टिप्पणी से एक घटना चलचित्र की भाँति मानस पटल पर घूम गई। उस समय मेरा भतीजा भोलू एक-डेढ़ वर्ष का था, तब मेरी उम्र कुछ चौदह-पंद्रह की रही होगी। एक दिन उसे संभालते-खेलते मैंने देखा कि वह एक लकड़ी उठाने की चेष्टा कर रहा था, संभवतः उसे रोकने की दृष्टि से जोर से 'ऐ' चिल्ला पड़ी। स्वर की तीव्रता से बच्चा घबरा कर न केवल सहम गया बल्कि रुँआसा होकर होठ बिसूरने लगा, अब मेरे द्रवित होने की बारी थी क्योंकि उसे रुलाने का मेरा कोई उद्देश्य न था। सो सहज ही 'ऐ' के आगे 'बी सी डी' जोड़कर गीत बना दिया और अनुभव किया कि मेरे स्वर बदलते ही भोलू के बिसूरते होठ सामान्य हो गये। वह निरापद हो पुनः खेलने-किलकने लगा। लेकिन अपने मनोरंजन के लिये यह खेल मैंने उसके साथ कई दिनों तक खेला। तब उम्र कम थी, लेकिन आज उस घटना की सहज स्मृति ने विचार करने को बाध्य कर दिया कि छोटे से बच्चे का व्यवहार भी बिना स्वर और संगीत का ज्ञान कराए या सिखाए ही बदले हुए स्वर से कितना प्रभावित होता है। आज भोलू उर्फ़ डॉ. अनिरुद्ध सिरोठिया भारतीय नौ-सेना में चिकित्सक हैं और स्वयं भी बहुत अच्छा गाते हैं।

शायद जन्म लेते ही हम स्वरों की कोमलता और तीव्रता का अनुभव करने लगते हैं। बल्कि हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियाँ आँख, नाक, कान, जिह्वा और स्पर्श चैतन्य हो उठती हैं। तभी तो बालक स्नेहिल स्पर्श, बोली, दृष्टि को बिना सिखाए, बिना कहे समझ जाते हैं।

किशोरी ताई कहती हैं कि जो स्वर नहीं हैं उन्हें जितना संभव हो टालना चाहिये, क्योंकि इससे स्वरों के सौंदर्य की हानि होती है। विडंबना यह है कि आज बेसुरेपन की बाँसुरी पर ही मोर नाच रहे हैं। सुर-लय का बोध शून्य हो गया है। आज संपूर्ण विश्व में हर क्षेत्र में सुरहीनों की तूती बाज रही है।

यह फिल्म मेरे मन पर एक गहरी छाप छोड़ गई। संगीत की इस महान- साधिका के जीवन में एक ऐसा समय भी आया जब वे दीर्घकाल के लिये अपनी आवाज़ खो बैठीं। एक गायिका, एक साधिका, जिसकी शिराओं में संगीत दौड़ता

हो। उसका कंठ साथ छोड़ दे तो उसके लिये उससे अधिक दुर्भाग्य क्या होगा? लेकिन किशोरीजी की सतत् साधना, अटूट निष्ठा और अखंड आस्था का ही परिणाम था कि उस कठिन समय में भी उन्होंने अपना संतुलन नहीं खोया। वे उसे ईश्वर का वरदान मानते हुए बताती हैं कि उस अनिवार्य मौन व्रत से उनकी अंतर्यात्रा, स्व का शोध, आरंभ हुआ, जिसमें वे डूबती चली गईं। वे कहती हैं कि उन्होंने संगीत के विषय में जो कुछ पहले सीखा था, उन दस वर्षों में उस पर चिंतन-मनन किया और अंतर्गान में उतरती गईं। उन्हें विश्वास था कि उनकी खोयी हुई आवाज़ एक दिन पुनः लौटेगी। यह उनकी गहन आस्था का ही परिणाम था कि न सिर्फ उनकी आवाज़ लौटी अपितु अपनी उत्कृष्ट गायकी से उन्होंने शास्त्रीय की उन ऊँचाईयों को छुआ है जहाँ सिर्फ़ किशोरी ताई जैसा समर्पित व्यक्तित्व ही पहुँच सकता है।

जो स्वर समर्पण, स्वानुभूति और संवेदना से उपजते हैं वे हृदय को झंकृत कर देते हैं। यही कारण है कि दर्शक उनके संगीत के रंग में रंग जाते हैं। वे कहती हैं कि वे मनोरंजन के लिये नहीं बल्कि श्रोता की आत्मा को जागृत करने की कामना से गाती हैं। वे कार्यक्रम की तारीख निश्चित होने के साथ ही कौन-सा राग गाना है यह तय कर लेती हैं और इतने वर्षों के गायन के पश्चात भी महीनों एकाग्रता से उस राग विशिष्ट का अभ्यास करती हैं। उनके विषय में लोगों को शिकायत थी कि वे कार्यक्रम के पहले किसी से ठीक तरह से मिलती या बात नहीं करतीं। लेकिन इस फिल्म में उन्होंने इस बात का खुलासा करते हुए कहा कि कार्यक्रम के लिये किये गये महीनों के सतत् अभ्यास के बाद वे मानसिक रूप से उस राग में पूर्णतः निमग्न होती थीं। वे एक प्रकार से ध्यानावस्था में होती थीं। किसी से संवाद करना, अर्थात उस विशिष्ट ध्यानावस्था का भंग होना। शायद, यही कारण है कि जब वे गाती, तो अपने साथ-साथ श्रोताओं को भी उसी भाव समाधि में पँहुचा देती थीं। कार्यक्रम के पूर्व उनके किसी से बातचीत न करने का कारण सुनकर मेरा मन उनके प्रति असीम सम्मान से भर गया।

किशोरी ताई जयपुर घराने की गायकी का प्रतिनिधित्व करती थीं। वहाँ का वैशिष्ट्य; संगीत की तकनीकी बारीकियाँ है। लेकिन किशोरी ताई संगीत-चमत्कार उत्पन्न करने लिये नहीं, बल्कि ईश्वर के लिये गाती थीं। उनका ईश्वर के लिये किया गया गायन उन्हें संगीत-समाधि में पहुँचा देता था। स्वर के साथ किशोरी ताई की गहरी अंतरंगता, राग के साथ उनका गहन तादात्मीकरण ही उन्हें एक विलक्षण भावपूर्ण गायकी प्रदान करता था। जिससे श्रोता भी उनके साथ-साथ उनकी गायकी के इस अद्‌भुत रस में तल्लीन हो जाते हैं और ब्रह्मानंद सहोदर सुख को अनुभूत करते थे।

वे, ७ अप्रैल २०१७ को अपनी इस लोक की यात्रा को संपूर्ण कर महायात्रा पर चली गईं। आज, वे सशरीर हमारे बीच में नहीं है। लेकिन आपनी गायकी से वे हमारे बीच में सदा-सदा के लिये उपस्थित रहेंगी।

व्यवसायिकता के इस युग में जहाँ कला की मौत हो गई है, बाज़ारवाद ने मनुष्य को पूरी तरह अपने शिकंजे में कस लिया है। मूल्यहीनता के इस युग में जहाँ एक गीत गाकर लोग स्वयं को मियाँ तानसेन समझने लगते हैं, एक कहानी लिखकर स्वयं को प्रेमचंद समझने की भूल कर बैठते हैं। वहाँ किशोरी ताई का संगीत के प्रति ऐसा समर्पण अद्‌भुत एवं दुर्लभ ही नहीं अपितु अनुकरणीय भी है। मैं विस्मृत-सी सोच रही थी कि किशोरी ताई की भाँति साधारण मनुष्य भी 'स्वर' के प्रति इतना सजग हो जाए तो हमारा संपूर्ण जीवन संगीतमय हो उठेगा।■

रेखा भाटिया

जन्म इंदौर, मध्यप्रदेश में हुआ। देवी अहिल्या विश्वविद्यालय से विज्ञान में स्नातक। लेखन में छात्र जीवन से ही रुचि रही। भारत और दुबई में रहने के बाद वर्त्तमान में अमेरिका के शर्लोट शहर में रहती हैं। लेखन के अलावा नृत्य और सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सक्रिय भागीदारी। अनेक रेडियो कार्यक्रम प्रसारित हो चुके हैं।

सम्पर्क : rekhabhatia@hotmail.com

भारतीय कलाओं का स्मरण

कल देर रात टीवी पर अलग-अलग इंडियन चेनल्स पर नृत्य प्रतियोगिताओं के कार्यक्रम देर रात तक देखती रही। वीकेंड भी था और ठंड भी कड़ाके की शुरू हो चुकी है। करने के लिए कुछ खास था नहीं। नृत्य मेरा दूसरा प्यार है लेखन के बाद। मेरी गुरु रितु ने मुझे बॉलीवुड डांस से निकालकर फिर से कत्थक में डाल दिया है। उनका तर्क है तुम्हें नृत्य की समझ है और तुम्हारे लिए वही ठीक है। इस उम्र में वे मेरे गुजरे सपने में फिर से जान डाल रही हैं जो वह हमेशा करती हैं सभी के लिए। सारे प्रोग्राम एक जैसे ही लग रहे थे। नृत्य के नाम पर तेज संगीत पर हवा में उछालते-कूदते पतले से, नरम रबड़ की तरह सभी प्रतियोगियों के शरीर और जजों के कमैंट्स सारे लगभग एक जैसे। मैं सोचने लगी, 'लगातार तीन-चार घंटे एक जगह बैठकर इन्हें देखा जा सकता है, शायद?'

फोटो : रेखा भाटिया

मेरे शहर शार्लोट में इंडियन कम्युनिटी के अस्सी प्रतिशत बच्चे अपने छात्र जीवन में क्लासिकल इंडियन डांस, गायन या वादन सीखते हैं, क्योंकि अभिभावक विरासत में मिली अपनी सांस्कृतिक सम्पदा के संस्कारों के बीज अपनी अगली पीढ़ी में बोना चाहते हैं। जरिया होता है भाषा, कला, सिनेमा, मंदिर (हिन्दू सेंटर जो भारतीयों के इकठ्ठा होने का सामाजिक स्थान भी है) में दी जाने वाली भारतीयता की शिक्षाएँ। लेकिन भारतीय टीवी चेनल्स पर आज भारत की अलग ही तस्वीर दिखाई देती है और हमारे बच्चे कुछ पिछड़े दिखाई देते हैं?

सुबह आज मौसम की पहली बर्फ गिरी है, छुट्टी है। घास पर नरम सफ़ेद शुद्ध बर्फ की परत और गहरी भूरी पेड़ों से गिर चुकी सूखी पत्तियों के ढेर पर छोटी-छोटी गहरी भूरी-काली सर्दियों में आने वाली चिड़ियाँ फुदक-फुदक कर पिली पड़ी घास में से पता नहीं क्या ढूंढ कर खा रही हैं। हल्की धुन पर चलता संगीत, मेरा ध्यान गया ऐसा लग रहा था मानो हर चिड़िया कोई पारम्परिक नृत्य पेश कर रही हो। मेरी कल्पनाओं में मुझे मजा आने लगा और मैं देर तक उन्हें निहार रही थी। जब थोड़ी धूप निकल आयी तो काली मोटी बिल्ली रोज की तरह उन पर झपट्टा मारने को आ गयी और कुछ कौवे, बाज भी मँडराने लगे। थोड़ी धुंध भी साफ़ हो चुकी थी। अब नन्ही चिड़ियाँ मेरी कल्पनाओं का नृत्य छोड़ डर के मारे इधर-उधर उड़ने लगीं। मुझे लगा रात के टीवी में दिखाए गये तेज संगीत का एक्शन शुरू हो गया है, 'तीन बज गए और पार्टी अभी बाकी है' और यह नन्हीं क्लासिकल इंडियन डांसर चिड़ियाँ प्रकृति के नृत्य के इस दूसरे राउंड में बाहर कर दी गयी हैं हमारे बच्चों की तरह।

एक सीधा सवाल मेरे जहन में गूँजा, क्या हमें भारत से दूर विदेश में रहकर अपने बच्चों में अपनी भाषा, अपनी जड़ें, अपनी कला, अपनी संस्कृति, अपनी विरासत को आगे बढ़ाने की जो कोशिश है, जो जूनून है, जिसके लिए हम यहाँ वर्षों का समय, पैसा, शक्ति-साधन, कई वर्षों की मेहनत, प्रतिबद्धता के साथ लगे हुए हैं उसे बंद कर देनी चाहिए? जबकि भारत में भी उसकी क़द्र कम हो रही है, तस्वीर बदल रही है? इस मेहनत का क्या फायदा होने वाला है? तत, तत, थुन-थुन की जगह मादक, अश्लील, उत्तेजक नृत्यों की भरमार है, जो कि सिर्फ एक्रोबेट्स की कला रह गयी है? या कोई बीच का रास्ता भी है? मैं इस तथ्य से वाकिफ हूँ। परिवर्तन समय की पहचान है और वह निश्चित आवश्यक है। शायद भारत में जो तस्वीर बदल रही है वो समय की माँग है, लेकिन जब बदलाव की गति बहुत तेज हो तो वह बदलाव किसी भी देश या समाज में असंतुलन लाता है।

मैंने मेरे सवालों के जवाब जानने के लिए शार्लोट शहर के नृत्य के सभी गुरु महारथियों, जिनका जीवन यहाँ भारतीय कला और संस्कृति के लिए समर्पित है और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर जिनकी पहचान है उन्हें संपर्क किया और अपने सवाल रखे। उन सभी के अनुभवों के आधार पर उनके जवाब भी मुझे मिल गए। उन सभी के विचार लगभग एक समान ही थे और सम्बंधित चिंता भी।

नृत्य मेरी जीविका का साधन नहीं है और ना ही नृत्य मेरे लिए किसी के मनोरंजन का माध्यम मात्र है। ना ही नृत्य मेरा चाल-चलन, मेरे लिए परम्पराओं का निर्वाह या मेरी संस्कृति, सभ्यता का मात्र मुखौटा है। नृत्य मात्र विरासत में मिली मुझे सौगात भी नहीं है। मैं किसी पद, गरिमा या अवॉर्ड के लिए नृत्य की सेवा नहीं करती। नृत्य मेरी साधना, आराधना, भक्ति से भी बढ़कर मेरा जूनून है जो मुझे मेरे ईश्वर से जोड़ता है। मैंने कई साल से हिन्दू सेन्टर में सारे सांस्कृतिक कार्यक्रमों में हिस्सा लेना छोड़ दिया है, फेस्टिवल ऑफ़ इंडिया में कई साल से मेरी भागीदारी नहीं है, क्योंकि उनकी माँग अब बॉलीवुड डांस की ज्यादा हो गयी है। फिर भी मेरी नृत्य शिक्षा में अपने बच्चों को डालने के लिए लोग एक साल से अधिक लम्बे समय तक इंतजार करते हैं। मैं बाकायदा अभिभावकों का इंटरव्यू लेती हूँ, उसके बाद बच्चे को अपना शिष्य बनाती हूँ या किसी दूसरी नृत्य शिक्षिका के पास भेज देती हूँ। फिर भी मेरे वार्षिक नृत्य कार्यक्रम में हजारों की उपस्थिति दर्ज होती है, टिकिट्स दो महीनों पहले बुक हो जाती हैं।

मैं शुद्ध भारतीय शास्त्रीय नृत्य सिखाती हूँ और मेरी प्रस्तुति भी शुद्ध शास्त्रीय और लोक नृत्यों में होती है। मैं अपने शिष्यों को अपनी नृत्य शिक्षा के द्वारा भारतीय सभ्यता और संस्कृति की शिक्षा देती हूँ। यह शब्द हैं डॉ. महा गिंगरीच के, जो शार्लोट, अमेरिका में भरतनाट्यम की गुरु हैं और सीपीसीसी कम्युनिटी कॉलेज की एडमिन असिस्टेंस टू वाइज प्रेजिडेंट हैं। पिछले पैंतीस वर्षों से अमेरिका के शहर शार्लोट को अपनी कला से भारतीय संस्कृति के रंग में रंग चुकी हैं। यह उनके अथक प्रयास और मेहनत का ही नतीजा है कि शार्लोट शहर बहुत छोटा होते हुए भी भारतीय सांस्कृतिक कला का एक केंद्र बन चुका है। नृत्य कला लोगों की रगों में बसकर आम जीवन की रोजमर्रा की जीवन शैली का अंग बन चुका है। सभी प्रकार के शास्त्रीय नृत्य, गायन, लोक नृत्य, बॉलीवुड नृत्य आदि कई कलाओं में यह शहर अग्रणी है, यहाँ कई सांस्कृतिक कार्यक्रम और जलसे होते हैं।

डॉ. महा की वार्षिक प्रस्तुति में जब स्टेज पर जीवंत ड्रम की थाप, गिटार की झनझनाहट और लेटिन डांस का थिरकता संगीत और उस पर क्लासिकल लेटिन डांस प्रस्तुत करते कलाकार और उसी थाप पर सजीव फ्यूज़न प्रस्तुति में भरतनाट्यम के लिबास में नाचती डॉ. महा उस दैविक माहौल में किसी देवी-सी प्रतीत होती हैं। उधर दूसरी नृत्य गुरु राधिका घाघरा-चोली पहने उस नृत्य के जमे अखाड़े में अपने लेटिन डांस पार्टनर के साथ उतर आती हैं और दर्शक किसी मोहपाश में बँधकर पलकें झपकना भी भूल जाते हैं। उस दर्शक दीर्घा में कौन गोरा, कौन काला और कौन हिंदी, तमिल, तेलगु, मलयाली, कन्नड़, मराठी,सिंधी, पंजाबी, बंगाली किसी भी भाषा को बोलता हो, मक्का-मदीना जाता हो या हरिद्वार जाकर अस्थि विसर्जन करता हो, किसी को

> "डॉ. महा गिंगरीच के, जो शार्लोट, अमेरिका में भरतनाट्यम की गुरु हैं और सीपीसीसी कम्युनिटी कॉलेज की एडमिन असिस्टेंस टू वाइज प्रेजिडेंट हैं। पिछले पैंतीस वर्षों से अमेरिका के शहर शार्लोट को अपनी कला से भारतीय संस्कृति के रंग में रंग चुकी हैं।"

अमेरिका की अपनी कोई सभ्यता, संस्कृति या विरासत है ही नहीं, यह देश कई संस्कृतियों, सभ्यताओं का मिला-जुला रूप है। यहाँ के लोगों में संस्कृति की भूख है। वे बड़ी आसानी से हर किसी की कला, सभ्यता, संस्कृति, खानपान जो भी अच्छा है अपना लेते हैं।

कोई फर्क नहीं पड़ता; भान भी नहीं रहता। उस जीवंत प्रस्तुति को देखकर नवरंग, झनक-झनक पायल बाजे, नाचे मयूरी, गाईड सिनेमा का पीरियड याद आ जाता है। साथ ही अफ्रीकन ड्रम पर थिरकते कलाकार साठ के दशक का हेलन के फ्लेमिंगो डांस, अफ्रीका के हुलाहु और छत्तीसगढ़ के आदिवासी नृत्य की याद करवाते हैं।

कला कला होती है चाहे कोई भी डांस फॉर्म हो, नृत्य की एक ही भाषा है, उस परम आनंद को महसूस करने की जब आप अपने आप को भूलकर हृदय, आत्मा से पूरी तरह उस ईश्वर को, उस परम आनंद को महसूस करते हैं। 'हमें दोनों ही सभ्यताओं के अच्छे पक्ष अपनाने चाहिये।' यह शब्द हैं गुरु राधिका के जो यामिनी कृष्णमूर्ति की शिष्या हैं। दूरदर्शन पर उमा शर्मा और पंडित बिरजू महाराज के साथ नृत्य प्रस्तुति दिया करती थीं और आज अमेरिका में नृत्य सेवा में जीवन समर्पित कर भारतीय नृत्य को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विख्यात कर चुकी हैं। गुरु राधिका हर नृत्य शैली का स्वागत खुले दिल से करती हैं परन्तु अपनी विरासत की जड़ें बहुत गहरे उनमें जमीं हुई हैं और यही उनकी विशुद्ध गर्वित पहचान हैं, जो भीड़ में भी उन्हें अलग पहचान दिलवाती है।

यहाँ भारत के विभिन्न हिस्सों से आयी कई नृत्य शिक्षिकाएँ हैं। भारतीय कम्युनिटी के बच्चे विभिन्न माध्यमों से भारतीय नृत्य कला की सेवा करते हैं, कोई भी त्यौहार, उत्सव, स्कूलों के सांस्कृतिक कार्यक्रम, यूनिवर्सिटीस के कार्यक्रम, १५ अगस्त, २६ जनवरी, गाँधी जयंती, फेस्टिवल ऑफ़ इंडिया, कोई भी इंटरनेशनल फेस्टिवल यहाँ तक की चीन का ड्रेगन फेस्टिवल, भारतीय नृत्य कला का डंका सभी ओर बजता है। अब वो ज़माने गए जब साड़ी, बिंदी, चूड़ी, कढ़ी का मतलब समझाना पड़ता था। अब तो यह हाल यह है कि स्कूलों के मेनू में भी भारतीय व्यंजन शामिल किये जाते हैं। ग्रोसरी स्टोर्स में भारतीय व्यंजनों की बहार है; पनीर, घी, नान रोटी, समोसा भी अमेरिकन के खानपान में शामिल हो चुका है और भारतीय परिधान की दुकानों में अमरीकी ग्राहकों की संख्या बढ़ने लगी है। ॐ का उच्चारण कर योग और ध्यान अमेरिकी जानने लगे हैं।

कई साल भारत के बाहर रहकर मैंने यह महसूस किया है अमेरिका की अपनी कोई सभ्यता, संस्कृति या विरासत है ही नहीं, यह देश कई संस्कृतियों, सभ्यताओं का मिला-जुला रूप है। यहाँ के लोगों में संस्कृति की भूख है। वे बड़ी आसानी से हर किसी की कला, सभ्यता, संस्कृति, खानपान जो भी अच्छा है अपना लेते हैं। दूसरी ओर भारत की प्राचीन कला सम्पदा, संस्कृति और सभ्यता हजारों साल पुरानी मूल्यवान धरोहर है, भारत हजारों सालों से कला का क्षेत्र हो या ज्ञान-विज्ञान का, शिक्षा का या मानव मनोविज्ञान का, गणित हो या भाषा का हर क्षेत्र में अग्रणी रहा है, हर क्षेत्र में संसार को सिखाने और प्रतिनिधित्व के लिए भारत के पास अथाह भण्डार है।

फिर क्यों आज हमारी सोच, हमारी कल्पनाएँ, हमारी उड़ान अपनी कला भूल दूसरों से कला की भीख मांग रही है? क्या हमारा अपने आप से भरोसा उठ चुका है? क्यों नहीं अपनी कला के साथ दूसरे की कला का भी सम्मान हो?

कभी सोचा है भारत से निकली प्राचीन रथ यात्रा की परंपरा का विश्व पर क्या असर है? भारत में मनाये जाने वाले त्यौहार, महोत्सवों, जुलूस, मेले, सामूहिक नृत्य, अखाड़ा कला, मल्लयुद्ध कई-कई कलायें जिनकी गिनती बड़ी है, उन सांस्कृतिक धरोहरों का विश्व की संस्कृति पर कैसी छाप है? सदियों से कई सभ्यताओं ने उसे कैसे अपनाया है?

अंत में, एक बार दिवाली के नाम पर भारतीय कम्युनिटी की हर साल मनाई जाने वाली दिवाली पार्टी पर परिवार की तीन पीढ़ियाँ एक साथ शामिल हुई। स्वागत द्वार पर लक्ष्मी और गणेश की मूर्तियों के साथ दिये, रंगोली सजी हुई थी और भीतर वहाँ शराब-मांसाहारी खाने और शबाब का भरपूर इंतजाम था। स्ट्रिप डांसर्स ना के बराबर कपड़ों में कमर मटका-मटका कर बेली डांस कर रही थीं और कई भारतीय डॉलर घुमा-घुमाकर उन डांसर्स पर फेंक रहे थे।

इस तमाशे का विरोध किसी ने नहीं किया। यह एक सामाजिक पारिवारिक दीवाली पार्टी थी। लेकिन इस आयोजन से दीवाली का उद्देश्य कहाँ पूरा हुआ, यही विचारणीय प्रश्न है?

लॉस वेगास में कभी जाकर मजा कर आना एक बात है, लेकिन लॉस वेगास के कल्चर को रोजमर्रा के जीवन जीने की शैली तो नहीं बनाया जा सकता है न? ■

रीना गुप्ता

रांची, झारखण्ड में जन्म। बीएससी तथा रांची विश्वविद्यालय से पत्रकारिता में पोस्ट ग्रेजुएट। सहारा न्यूज चैनल दिल्ली में ११ साल बतौर प्रोग्राम प्रोड्यूसर रहीं। आल इंडिया रेडियो की विदेश प्रसारण सेवा में उद्घोषक रहीं। खालसा कॉलेज दिल्ली विश्वविद्यालय तथा हिन्दी भवन में पत्रकारिता प्रशिक्षण कार्य का अनुभव। आलेख एवं पुस्तक समीक्षाएँ अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। रंगमंच, कला एवं मंच संचालन में विशेष रुचि। शंघाई में हिन्दी प्रशिक्षण में कार्यरत। सम्प्रति- सूजों, चीन निवास।

सम्पर्क- reenagupta04@hotmail.com

विमर्श

चीन में पश्चिम की बयार

शिल्पा जो हमारी पारिवारिक मित्र हैं, के घर से लौटते वक्त उस दिन हमने एपी प्लाजा घूमने का मन बना लिया। रेलवे स्टेशन जाने के लिए हमें जिस स्टेशन से ट्रेन पकड़नी थी उसी स्टेशन पर एपी प्लाजा है। यह शंघाई का बहुत बड़ा मार्केट है जिसमें कपड़े, जूते, बैग, खिलौनों से लेकर इलेक्ट्रॉनिक सामान और ज्वैलरी सभी कुछ बिकता है। इस बाजार की खासियत यह है कि यहां ज्यादातर विदेशी ग्राहक ही आते हैं और जमकर मोल-भाव कराते हैं। विदेशियों के साथ डीलिंग करते-करते दुकानदार भी विदेशी भाषा बोलने लगे हैं। जी हां, विदेशी भाषा मतलब 'अंग्रेजी'। चीन में रहते हुए मुझे चार साल हो गए हैं और यहां रहते हुए चीनियों के ऊपर हावी होती अंग्रेजीयत को देखकर कई बार मैं सोच में पड़ जाती हूं। विश्व की प्राचीन और समृद्ध संस्कृतियों में से एक चीन की संस्कृति पर जिस तरह से पश्चिमी संस्कृति का अतिक्रमण बढ़ता जा रहा है, एक दिन यहां की युवा पीढ़ी अपनी संस्कृति से कोसों दूर हो जाएगी। ये अलग बात है कि वर्तमान में संपूर्ण विश्व 'मिश्रित संस्कृति युग' में जी रहा है और भविष्य में संपूर्ण विश्व में एक ही संस्कृति बची रह जाएगी जो सभी संस्कृति के सम्मिश्रण से बनी होगी।

उस दिन एपी प्लाजा के पर्ल मार्केट में हमारी मुलाकात ब्राजील के दंपत्ति से हो गई। बातों-बातों में पता चला कि वे लोग भारत भ्रमण करते हुए चीन पहुँचे हैं। पति-पत्नी के साथ ब्राजील की एक पूरी टीम थी। हमें देखते ही वो एकदम से पूछ बैठे 'वेयर आर यू फ्राम' मैंने कहा- 'इंडिया'। इतना सुनते ही उनकी आंखें चमक उठी। फिर क्या था पर्ल मार्केट में खड़े-खड़े ही हमारी दोस्ती हो गई और भारत-चीन की बातें करते हुए उन्होंने बताया कि सन् २०१० में भी वो चीन आये थे, लेकिन तब के चीन और अब के चीन में बहुत फर्क आ चुका है। सड़कों और ईमारतों के अलावा लोगों के रहन-सहन में भी काफी बदलाव आ गया है। ये लोग तो बिल्कुल पश्चिमी संस्कृति में ढल चुके हैं। मुझे लगा मिसेस 'एनी' ने मेरी जुबान की बातें छीन ली हों। अंग्रेजीयत इन पर इस कदर हावी होती जा रही है कि ये अपनी संस्कृति को भी भूलाते जा रहे हैं। अमेरिका जाना और अंग्रेजी में बातें करना चीन के युवा पीढ़ी का सबसे बड़ा सपना बनता जा रहा है।

शुरुआती दिनों की बात है, एक साल ही हुए होंगे हमें चीन आये हुए। मेट्रों से हम पति-पत्नि कहीं जा रहे थे, साथ की सीट पर एक महिला पांच-छह साल के बच्चे के साथ बैठी थी। हमें देखते ही वो पूछ बैठी 'इंग्लिश'? 'हां' में मेरा सिर पूरी तरह से अभी हिला भी नहीं था कि अपने बेटे के बैग से अंग्रेजी की एक किताब निकाल कर मेरी तरफ बढ़ा दिया। बेटे से चीनी भाषा में कहा- इनसे अंग्रेजी पढ़ो। हद तो तब हो गई जब वो ट्रेन में ही मुझसे अंग्रेजी पढ़ाने को कहने लगी और मंजिल आने तक मैं उनके बेटे को अंग्रेजी पढ़ाती रही।

> चीन ने इतनी तरक्की अपनी भाषा के बूते ही की है। कंप्यूटर एप्लीकेशन से लेकर इंटरनेट बैंकिंग, ऑन लाइन शॉपिंग साइट, सभी कुछ मैंडरीन भाषा में ही विकसित किया है।

चीन के सभी सरकारी विद्यालयों में प्रारंभिक स्तर से ही अंग्रेजी अनिवार्य विषय के तौर पर पढ़ाया जाने लगा है, लेकिन यहां के उच्च मध्यम वर्गीय और मध्यम वर्गीय परिवार सरकारी स्कूल की अंग्रेजी पढ़ाई से संतुष्ट नहीं हैं। लिहाजा ये लोग अपने बच्चों को निजी अंग्रेजी कोचिंग संस्थान भेजते हैं या फिर सिर्फ अंग्रेजी के आकर्षण की वजह से उन्हें मँहगे निजी अंग्रेजी माध्यम स्कूल में भेजते हैं। चाहे बच्चे शिक्षक की अंग्रेजी टोन को समझे या नहीं, पर पढ़ेंगे उसी स्कूल में।

इसे विडंबना ही कहेंगे कि चीन की तरक्की के पीछे जिस मैन्डरीन भाषा का अहम योगदान रहा है उस भाषा को बोलने वाले लोग आजकल अंग्रेजी बोलने वाले चीनी से खुद को कमतर महसूस करते हैं। अंग्रेजी ना बोल पाने की वजह से इनमें कहीं ना कहीं हीनभावना भी पनपती जा रही है। कुछ लोग इसे व्यक्तिगत विकास की राह में बड़ा रोड़ा समझते हैं।

कुछ दिनों पहले की ही बात है मैं अपने अपार्टमेंट के नीचे ही अपनी दक्षिण भारतीय मित्र से फोन पर अंग्रेजी में बातें कर रही थी, जैसे ही हमारी बातचीत खत्म हुई हमारे ही अपार्टमेन्ट की एक चीनी महिला जो पास ही खड़ी थी मेरी तरफ आकर टूटी-फूटी अंग्रेजी मिश्रित चीनी भाषा में बोली- 'इंडिया इंग्लिश योदा?' 'नीदा इंग्लिश इज़ गुड' 'इंडिया इंग्लिश फ्राम स्कूल'। मैं चीनी महिला की उत्सुकता को समझ गई और मैंने कहा यश- इंग्लिश, इंग्लिश फ्रॉम किंडर-गार्टेन इन इंडिया, वो यो हिंदी एंड इंग्लिश, लियांगा। (हां, भारत में अंग्रेजी बच्चे स्कूल से ही पढ़ते हैं) उस महिला ने जवाब में जो कहा उससे मैं अंचभित नहीं हुई। महिला ने कहा- हेन हॉव (बहुत अच्छा) चयांगो (चीन) मयो इंग्लिश (चीन में इंग्लिश नहीं है) बू हॉव (ये अच्छा नहीं है) वो याओ इंग्लिश, शबॉव-बॉव याओ इंग्लिश (हमें इंग्लिश आनी चाहिए, बच्चों को इंग्लिश आनी चाहिए)। मैं मुस्कुरा कर रह गई। महिला की बातों से यह स्पष्ट था कि यहां कि आम जनता अब अंग्रेजी की कमी महसूस करने लगी हैं।

ये सच है कि अंग्रेजी अब सिर्फ यूनाईटेड स्टेट ऑफ अमेरिका और यूनाईटेड किंगडम की भाषा नहीं रह गई है। धीरे-धीरे यह अंतर्राष्ट्रीय संपर्क भाषा बनती जा रही है। लेकिन, ये भी सच है कि चीन ने इतनी तरक्की अपनी भाषा के बूते ही की है। कंप्यूटर एप्लीकेशन से लेकर इंटरनेट बैंकिंग, ऑन लाइन शॉपिंग साइट, सभी कुछ मैंडरीन भाषा में ही विकसित किया है। ऐसे में किसी भी काम के लिए चीनियों को किसी अंग्रेजी साइट पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। चिकित्सा के क्षेत्र में भी चीन ने काफी तरक्की की है और वो भी अपनी भाषा में। टीसीएम (चाइनीज़ ट्रेडिशनल मेडीसिन) आधुनिक अंग्रेजी चिकित्सा पद्धति से किसी मायने में कमतर नहीं है। इन्होंने अपनी भाषा का इस्तेमाल औषधि और चिकित्सा के क्षेत्र में जिस लगन और बुद्धिमत्ता से किया

है वो इनके भाषा प्रेम को ही दर्शाता है।

यहां की एक बात जिससे मैं अत्यधिक प्रभावित हूं वो ये है कि चीन की बहुमुखी तरक्की में यहां की भाषा का विकास भी शामिल रहा है। यहां विज्ञान, तकनीकी, कला से लेकर अर्थशास्त्र, मेडिकल, इंजीनियरिंग, मैनेजमेंट हर प्रोफेशन और हर विषय की पढ़ाई मैंडरीन में ही होती है। भारतीय शिक्षा-व्यवस्था से विपरीत इन्हें किसी भी पढ़ाई के लिए अंग्रेजी का मुंह नहीं ताकना पड़ा है। इन्होंने हरेक विषय और प्रोफेशन की किताब को अपनी भाषा में प्रकाशित किया है। शायद यही के बड़ी वजह है कि बीस साल में चीन दुनिया की दूसरी आर्थिक ताकत बनकर खड़ा हो गया है।

जिस रफ्तार से चीन में विकास हुआ और निरंतर हो रहा है उससे पूरी दुनिया प्रभावित है। चाहे वो विश्व का सबसे लंबा ग्लास ब्रिज हो या फिर बहुमंजिली इमारतें बनाने की तकनीक, चीन ने सब कुछ अपने देश में ही विकसित तकनीक के बूते किया, लेकिन उससे भी ज्यादा जो बात प्रभावित करने वाली है वो ये है कि ये सभी तकनीक उन्होंने अपनी भाषा में विकसित की। अब तक का मेरा अनुभव यही कहता है कि चीन को आधुनिक चीन बनाने में यहां की सरकारी नीतियों के अलावा लोगों की कर्मठता, जीवन पद्धति, खान-पान और प्रकृति से लगाव के साथ यहां की भाषा का बेहद महत्वपूर्ण योगदान रहा है। जानकारों के मुताबित बीते दिनों में चीन जब आर्थिक तंगी के दौर से गुजर रहा था तब देश को उस स्थिति से उबारने के लिए यहां के लोगों ने अपना समय, अपना पैसा और अपना हुनर देश के नाम कर दिया। उस दौरान भाषा के क्षेत्र में भी लोगों ने बहुत काम किया और देश को एकसूत्र में बांधने के लिए अपनी भाषा का भरपूर फायदा उठाया। जबकि भारत की ही तरह चीन में भी भाषा और बोलियों की विविधता पाई जाती है।

बदलते परिवेश में स्थानीय लोग पश्चिमी संस्कृति के प्रभाव की वजह से अंग्रेजी भाषा की जानकारी का अभाव महसूस करने लगे हैं। ये अंग्रेजी के आकर्षण का ही नतीजा है कि अंग्रेजी में बातें करना, बच्चों को मँहगे अंग्रेजी विद्यालय में भेजना चीनियों के लिए भी प्रतिष्ठा का विषय बनता जा रहा है। यही वजह है कि यहां अंग्रेजी मातृभाषा वाले देश के लोगों को अंग्रेजी शिक्षक की नौकरी आसानी से मिल जाती है। यह जरूरी नहीं कि उनके पास शिक्षक-प्रशिक्षण का अनुभव या सर्टिफिकेट हो ही। उनकी नौकरी में नेटिव स्पीकर कंट्री का पासपोर्ट होना ही उनकी योग्यता को साबित करता है।

कुछ पांच-सात साल पहले तक तो नेटिव कंट्री पासपोर्ट की आवश्यकता नहीं थी सिर्फ उनकी चमड़ी का सफेद रंग ही शानदार वार्षिक पैकेज वाली अंग्रेजी शिक्षक/शिक्षिका की नौकरी दिलाने के लिए काफी था। पिछले कुछ सालों से वर्क वीजा के लिए नेटिव कंट्री का टैग जरूरी हो गया है। समय के साथ यूरोपीय देशों खासतौर पर अमेरिकी संस्कृति का बढ़ता प्रभाव चीन के भविष्य के लिए खतरा समझा जाने लगा है। चीन की युवा पीढ़ी जिस रफ्तार से यूरोपीय संस्कृति की गिरफ्त में आती जा रही है, यहां की संस्कृति के संरक्षकों के लिए यह चिंता का विषय बनता जा रहा है। अंग्रेजी चाल-चलन इन पर हावी होता जा रहा है लिहाजा इनकी समृद्ध सभ्यता युवाओं से दूर होती जा रही है। परिवारवाद धीरे-धीरे बिखराव में बदलता जा रहा है। विवाह की पुरानी परंपरा और उससे जुड़े रीति-रिवाज अब महज छोट-छोटे गांवों तक सिमट कर रह गये हैं। युवा पीढ़ी में तलाक और लिव-इन क्लचर फैशन बन गया है। चिंता इस बात की है कि जिस बुनियाद की वजह से चीन आज विकास की दौड़ में आगे है कहीं वो ही ना उखड़ जाए!■

शन्नो अग्रवाल

९ दिसंबर १९४७ को पूरनपुर, पीलीभीत उ.प्र. में जन्म। बचपन से कविताएँ लिख रही हैं। लखनऊ युनिवर्सिटी से एम.ए. किया। काव्य-संग्रह 'रोशनदान' एवं 'ओस' प्रकाशित। बाल काव्य-संग्रह 'छुट्टी के दिन' प्रकाशित। सम्प्रति- लंदन में निवास।

सम्पर्क : shannoaggarwal1@hotmail.com

तरक्की की कीमत

प्रवासी देशों में रहने वाले भारतीयों के हिंदी बोलने के बारे में बात करें तो हमें यह सोचना होगा कि हिंदी को हम कितना जानते हैं। देखा जाए तो हिंदी भाषा तमाम भाषाओं से मिलकर बनी है। इसमें पारसी, फारसी, टर्किश, अरबी, चीनी व पोर्तुगीज आदि भाषाएँ ऐसे घुल मिल गयी हैं जैसे दूध में चीनी या चीनी में दूध। जिस तरह हम मसालेदार चाय पीते हुए और उसका जायका लेते हुए उसमे पड़े मसालों के बारे में नहीं सोचते उसी प्रकार किसी भाषा को बोलते हुए भी हम उसमें इस्तेमाल किये जाने वाले अन्य भाषाओं के शब्दों का विश्लेषण नहीं करते। जिसे अपना लो बस वही अपना हो जाता है। भाषा के बारे में सोचते हुए एक और मजेदार बात है कि जो भाषा जिस देश में बोली जाती है उसे वहाँ के जानवर भी समझते हैं। जिस तरह भारत में कुत्ते-बिल्ली व अन्य पशु-पक्षी हिंदी को समझते हैं उसी तरह चाइनीज कुत्ते-बिल्ली भी चाइनीज समझते हैं और जापानी कुत्ते-बिल्ली जापानी।

हर भाषा अपने एक नाम से ही जानी जाती है। और यही बात हिंदी के संग भी है। इसलिए उसमें मिले-जुले अन्य भाषाओं के शब्दों की गहराई में न जाकर हम अपनी हिंदी के बारे में और भी बातें करते हैं और चलते हैं प्रवासी देशों की तरफ। जहाँ बरसों पहले तमाम भारतीय अपनी रोजी-रोटी के चक्कर में भारत से आये और फिर वहीं बस गए। देखते हैं कि उन हिन्दी भाषी लोगों के बच्चों पर हिंदी का किस तरह और कितना प्रभाव पड़ रहा है। दुनिया के उन तमाम देशों में रहने वाले प्रवासी भारतीय अंग्रेजी बोलने के साथ उस देश की भाषा को भी कम या अधिक बोलना सीख लेते हैं। लेकिन अपनी मातृभाषा हिंदी के संग उनका क्या रवैया है इस बात पर अक्सर लोगों की जिज्ञासा रहती है।

भारत से आने वाले कुछ अधिक शिक्षित परिवारों ने हिंदी में बोलने की बजाय अपने बच्चों के साथ अंग्रेजी में ही बात करना अपनी शान समझी। और छुट्टियों में भारत जाते समय अपने बच्चों को कुछ हिंदी शब्द सिखा देते थे। ऐसे परिवारों में हिन्दी की शब्दावली कम होती गयी। लेकिन कुछ ऐसे भी अपवाद हैं जहाँ उच्च शिक्षित परिवारों ने अपने पारिवारिक जीवन में हिंदी में ही बातचीत करना अपना गौरव समझा ताकि उनके बच्चे अपनी जड़ों से जुड़े रहें। इसके अलावा ऐसे परिवार भी हैं जिनमें भारत से आये हुए लोग अंग्रेजी बोलने में अधिक निपुण न होने से अपने बच्चों से हिंदी में ही बात करते रहे और अपने भारतीय समुदाय व मित्रों के बीच हिंदी भाषा को ताज पहनाये हुए हैं।

बच्चों से हर समय हिंदी में ही बोलने से उनके बच्चे अंग्रेजी के साथ-साथ अच्छी हिन्दी भी बोलना सीख गए हैं और अपनी संस्कृति से भी जुड़े हैं। इस तरह के बच्चों का हिंदी उच्चारण भी बहुत कमाल का है। वह बच्चे हिंदी के कुछ मुहावरे व हिंदी में हँसी-मजाक की बातें भी करना जानते हैं। यह सब देखकर बड़ा अच्छा लगता है। पर जो बच्चे बचपन से हिंदी नहीं बोलते उनमें से कुछ बड़े होते हुए थोड़ी सी हिंदी जान जाते हैं पर उन्हें लिखना-पढ़ना फिर भी नहीं आता। बड़े होते हुए उनका जीवन इतना व्यस्त होता जाता है कि वह लोग हिंदी भाषा को सीखने का समय ही नहीं निकाल पाते और

अपने जीवनयापन में आगे बढ़ते हुए इस तरफ से बेखबर रहते हैं। जिस जीवन को वह जी रहे हैं या जिस देश में वह रह रहे हैं यह उनका दोष नहीं बल्कि उसी के रंग में वह स्वाभाविक रूप में रंग जाते हैं और फिर उसी रंग-ढंग में उन्हें जीने की आदत हो जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि कच्ची मिट्टी को जिस तरह चाहो उस तरह गढ़ लो लेकिन उसके पकने के बाद उसे कोई और आकार देना मुश्किल हो जाता है। भाषा सीखने के बारे में भी यही कहा जाता है कि जिस भाषा को बचपन से सीखो वह रगों में बहने लगती है और बड़े होकर भी उसका प्रवाह बना रहता है।

यहाँ लंदन की हवा में रहने वाले कुछ युवा पीढ़ी के लोगों को, जो हिंदी भाषा भी जानते हैं, सांस्कृतिक आयोजनों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। साहित्यिक गोष्ठियों में उन्हें ससम्मान आमंत्रित किया जाता है ताकि उनमें हिंदी के प्रति सम्मान व जागरूकता बनी रहे और उनसे उम्मीद की जाती है कि उनकी आने वाली पीढ़ियाँ भी उनसे प्रभावित होकर हिन्दी सीखेंगी व बोलेंगी। यहाँ के कुछ स्कूलों में भी हिंदी व संस्कृत पढ़ाई जाने लगी है। और भारतीय बच्चों के साथ कुछ अंग्रेज बच्चे भी हिंदी सीखने लगे हैं। अंग्रेज बच्चों की हिंदी में दिलचस्पी का कारण शायद वालीवुड के गाने व फिल्में हैं। जो भी कारण हो यह एक हर्ष की बात है कि इस तरह धीरे-धीरे अंग्रेजी में भी हिंदी की बिंदी लग रही है।

इस बात का जिक्र करना भी जरूरी है कि पुरानी पीढ़ी के अलावा नई पीढ़ी के जो लोग भारत से आकर रह रहे हैं वह हिंदी को लेकर अपने बच्चों के लिए अधिक चिंतित व सतर्क हैं। और चाहते हैं कि उनके बच्चे अपनी मातृभाषा व संस्कृति के संपर्क में रहें। इसलिए वह अपने बच्चों से घर में निरंतर हिंदी में बातें करते हैं। बाहर जाने पर सुपरमार्केट, ट्रेन, बस स्टॉप या पार्क जैसी जगहों में जब भी ऐसे बच्चों को हिंदी में बात करते हुए देखती हूँ तो मैं उनसे बहुत प्रभावित होती हूँ और अपनी भाषा को लेकर दिल में एक तरह का सुकून सा मिलता है। भारत में जहाँ तमाम युवा अंग्रेजी भाषा व पश्चिमी सभ्यता में रंग रहे हैं वहीं ऐसे भी लोग हैं जो अपना देश छोड़ने के बाद हिंदी का महत्त्व महसूस कर रहे हैं। कई बार वह इंग्लिश और हिंदी को मिलाकर भी बोलते हैं जिसे हम हिंगलिश कहते हैं। हाँ, यह बात भी सही है कि मन में कभी कभार एक भय सा उत्पन्न होने लगता है कि विदेश में रहने से और विदेशी भाषा को प्राथमिकता मिलने से कहीं अपनी हिन्दी भाषा इन प्रवासियों के बीच किसी दिन विलीन न हो जाए। किन्तु दूसरी तरफ नई पीढ़ी के सकारात्मक दृष्टिकोण को देखते हुए लगता है कि प्रवासी भारतीयों के बीच हिन्दी का विकास पहले से अधिक हो रहा है और इसकी मशाल विदेशों में भी हमेशा जलती रहेगी।

हिंदी पर एक कविता :

हिंगलिश - चले गये अंग्रेज कभी के / छोड़ के हिन्दुस्तान / पर अंग्रेजी भाषा को / मिलता पूरा सम्मान / अक्सर ही लोगों का / बढ़ जाता है कन्फ्यूजन / जब हिंदी भाषा की बजाय / अंग्रेजी का होता पूजन। / मिक्स हो रही भाषा / खोकर अपनी सूझ / हिंदी अपने देश में / चार्म कर रही लूज। / हिंदी की चिंदी उड़े / अंग्रेजी की हुई जुबान / सबके सर यह चढ़ी हुई / न इससे हम अनजान। / हिंगलिश हिंदुस्तान में / चिंगलिश बोले चीन / अंग्रेजी के दिखते हैं / दुनिया भर में सीन। / जब कोई बोले अंग्रेजी / तो नकल करे है दूजा / खरबूजे को देख कर / रंग बदल रहा खरबूजा। ■

अनुराग शर्मा

उत्तरप्रदेश में जन्म। विज्ञान में स्नातक तथा प्रबंधन में स्नातकोत्तर। इन्टरनेट पर स्ट्रीमिंग रेडियो चलाने के अलावा साप्ताहिक सुनो कहानी ऑडियो का संचालन। कथा *संग्रह अनुरागी मन* के लिये महात्मा गाँधी संस्थान, मॉरीशस के *आप्रवासी साहित्य सृजन सम्मान* से सम्मानित। सम्प्रति - पिट्सबर्ग में परियोजना प्रबंधक तथा सेतु द्वैभाषिक के प्रमुख सम्पादक।

सम्पर्क : indiasmart@gmail.com

हिंदी बीमार चल रही है

हिंदी बीमार है। उसे एक सरल रोग नहीं बल्कि कई जटिल रोग हैं, और उसके तीमारदार हर तरह से बेकार हैं। इससे भी बड़ी समस्या यह है कि उन तीमारदारों की दृष्टि इतनी सीमित है कि वे किसी सक्षम सेवक को पहचानते भी नहीं कि बुला सकें और यदि कोई स्वतः चला ही आये तो उसे घुसने नहीं देते हैं। हिंदी को अक्षमता ने जकड़ा हुआ है। शक्तिशाली पाँव होते हुए भी इसे बैसाखी का नाम देकर बेड़ियाँ पहनाई गई हैं। और ये बेड़ियाँ हैं तथाकथित हिंदी-सेवक, हिंदी अधिकारी, वे लोग जो हिंदी के नाम की रोटी खा रहे हैं और वे भी जो हिंदी के नाम के माल-पुए खा रहे हैं।

हिंदी के जटिल रोगों को समूहबद्ध करके अगर एक नाम देना हो तो मैं कहूँगा- सहनशीलता, बर्दाश्त। हिंदी का एक ही रोग है, वह यह कि उसने गुणहीनता को बर्दाश्त किया है।

> “हिंदी की अधिकांश चर्चायें आत्ममुग्ध समूह की पारस्परिक प्रशंसा तक ही सीमित रह जाती हैं। पारस्परिक उत्थान का यही लेन-देन सम्मान-पुरस्कार वितरण कार्यक्रमों में भी देखने को मिलता है जहाँ राजनीतिक कृपापात्र अपनी स्वार्थसिद्धि के पात्रों को अनुगृहीत करते हैं।”

मैंने यूरोप, अमेरिका और अफ़्रीका में हिंदी के सूचनापट्ट देखे हैं। जब भारत में हिंदी पर कालिख पोते जाने की खबरें सुनता हूँ तो मन में पहला प्रश्न यही उठता है कि इस घृणा को रोकने के लिये उन लोगों ने क्या किया जिन पर हिंदी की ज़िम्मेदारी है। क्या कोई हिंदी अकादमी, हिंदी सचिवालय, हिंदी निदेशालय या किसी विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग शान से खड़ा होकर यह कह सकता है कि हमने ऐसा अपराध करने वालों के खिलाफ़ रिपोर्ट लिखवाई, प्रशासन पर दवाब बनाकर उन्हें अपराध की सज़ा दिलाई और उन पोते गये चिह्नों को फिर से स्थाई रूप दिया? हमने तब तक इस मामले को नहीं बख्शा जब तक अपराधियों को उपयुक्त सज़ा नहीं मिल गई। नहीं, इनके बस का नहीं। यह इनकी इच्छाशक्ति और क्षमता दोनों के बाहर की बात है।

जब हिंदी का एक प्राध्यापक फ़ेसबुक पर बड़ी शान से अपने बच्चों के अंग्रेज़ी स्कूल की भारी फ़ीस का रोना रोता है तब वह हिंदी के प्रति अपना अविश्वास प्रकट कर रहा होता है। वह यह भी बता रहा होता है कि अगर उसे अंग्रेज़ी आ जाती तो वह हिंदी में न होता। वह कह रहा है कि यदि वह डॉक्टर, इंजीनियर आदि कुछ बन जाता तो उसे मजबूरन हिंदी को न ढोना पड़ता। उसे पता है कि हिंदी उसकी रुचि नहीं उसकी मजबूरी है। हिंदी उसके नाकारेपन का कवच है। यह सच है कि हिंदी ने ऐसे नाकारों को थोक में अपनाकर उनके ऊपर कृपा की है, लेकिन साथ ही अपने पैर पर कुल्हाड़ी भी मारी है। ये लोग ‘श’ और ‘ष’ के अंतर से अधिक रुचि अंग्रेज़ी के 'V' और 'W' के अंतर को जानने में दिखलाते हैं। अंग्रेज़ी की बारीकियों में रुचि दर्शाना भी इनके लिये स्टेटस सिम्बल है और बच्चों के अंग्रेज़ी स्कूल की भारी फ़ीस भी।

हिंदी की समस्या उसके मानकीकरण करने वाले अधिकारियों की भी है। यदि बाल गंगाधर ‘टिळक’ को ‘तिलक’, ‘मिर्ज़ापुर’ को ‘मिरजापुर’ लिखना पड़े; ‘आह्वान’ और ‘आवाहन’ में अंतर न रह जाये; पहले से ही सीमित शब्दावली को सरलीकरण के नाम पर कमज़ोर किया जाता रहे; स, श, और ष का अंतर न जानने वाले को प्रथम श्रेणी का

पत्रकार, साहित्यकार या भाषाविद् समझा जाये, तो किसी भी भाषा का वही हाल होगा जो हिंदी का हो रहा है। जब देवनागरी में 'ळ' उपलब्ध है तो उसे हिंदी से बाहर क्यों किया गया? 'ळ' को 'ल' से प्रतिस्थापित करने की आवश्यकता क्या है? यदि हिंदी के तथाकथित विद्वान को 'श' और 'ष' का अंतर नहीं पता, 'ऋ' और 'ज्ञ' का प्रामाणिक उच्चारण नहीं मालूम, तो उसे वर्णमाला के निर्धारण का अधिकार ही क्यों दिया जाये?

कविताकोश हिंदी के सबसे बड़े स्वयंसेवक प्रकल्पों में से एक है। इसमें हिंदी के ख्यातनामों से लेकर गली मुहल्ले के शायर-गीतकार भी मौजूद हैं, लेकिन यदि आप प्रसिद्ध गीतकार और हिंदी की कालजयी कहानी 'हार की जीत' के लेखक सुदर्शन को वहाँ ढूँढना चाहें तो निराशा हाथ लगेगी। क्योंकि 'तेरी गठरी में लागा चोर' या 'मन की आँखें खोल बाबा' के गीतकार से किसी मुहल्ला-कवि का कोई स्वार्थ सधने वाला नहीं है। हिंदी की अधिकांश चर्चायें आत्ममुग्ध समूह की पारस्परिक प्रशंसा तक ही सीमित रह जाती हैं। पारस्परिक उत्थान का यही लेन-देन सम्मान-पुरस्कार वितरण कार्यक्रमों में भी देखने को मिलता है जहाँ राजनीतिक कृपापात्र अपनी स्वार्थसिध्दि के पात्रों को अनुगृहीत करते हैं। मरे हुए लतीफ़ों को वीभत्स ढंग से मंचित करने वालों को कपि, कभी और कवि का भेद न कह सकने वाले भाषण के लिये सम्मानित किया जाता है और ब्लॉग, एग्रीगेटर तथा ट्रोल जैसे अंग्रेज़ी शब्द जानने भर पर से हिंदी में पीएचडी हो जाती है।

हिंदी एक बाभुक भासा है, इसमें कवि और कपि एक ही भाव बिकते हैं, बल्कि कवि-कवि तो कभी ज़्यादा अच्छी कपीता कर लेता है।

जब हिंदी के किसी अंतर्जाल समूह में कोई संपादक जी तुलसी, मीरा, या कबीर का वह दोहा जानना चाह रहे हों जिस पर उनकी डेढ़ दशक की संपादकी वाली पत्रिका का नाम उन्हीं के द्वारा रखा गया है तब हिन्दी की उदारता पर गर्व और भाजी-खाजा-समभाव पर निराशा एक साथ होना स्वाभाविक है। देशभर की हिंदी अकादमियों, केंद्रों व संस्थानों द्वारा ऐसे विद्वान रोज़ सम्मानित होते रहे हैं, जबकि वास्तविक हिंदी कार्यकर्ता पहुँच के राजपथ से दूर गुमनाम गलियों में जूझ रहे हैं। विश्वविद्यालयों के लिये एकरूप हिंदी पाठ्यक्रम के निर्माण का दावा करने वाले सरकारी संस्थान की वेब-साइट पर इस विषय की एक-पत्रीय घोषणा व्याकरण और वर्तनी की त्रुटियों से भरी हुई थी। जिन्हें खुद हिंदी पढ़ने की ज़रूरत है वे दुनियाभर को पढ़ाने के काम पर लगाये जायें तो और क्या आशा की जा सकती है? हिंदी की जड़ में मट्ठा डालने के लिये इतना काफ़ी न हो तो आपको यह जानना ज़रूरी है कि अंतरराष्ट्रीय महत्व की कुछ संस्थाएँ ऐसी भी हैं जिनके द्वारा हिंदी के प्रसार-प्रचार की कल्पना तो दूर की बात है, उनके अन्यथा-तकनीकी-सक्षम पदाधिकारियों को हिंदी में ईमेल लिखना नहीं आता। ऐसी कई संस्थाओं के पंजीकृत नाम तक अंग्रेज़ी में है। न हिंदी जानने की ज़रूरत है और न ही किसी हिंदी

हिंदी एक बाभुक भासा है, इसमें कवि और कपि एक ही भाव बिकते हैं, बल्कि कवि-कवि तो कभी ज़्यादा अच्छी कपीता कर लेता है।

जानने वाले को जानने की, क्योंकि ऐसी दुकानों का उद्देश्य हिंदी का उत्थान कभी था ही नहीं। हिंदी के नाम पर चलने वाली संस्थाओं के अक्षम कर्ता-धर्ताओं को हटाकर सक्षम लोगों को ज़िम्मेदारी दी जानी चाहिये और उनके कार्यकलापों की कड़ी निगरानी की जानी चाहिये।

भोजपुरी, मैथिली को भाषा का दर्ज़ा देने का विरोध करने वाले कभी यह नहीं सोचते कि फिर उर्दू को किस आधार पर अलग भाषा कहा जा सकता है? यदि लिपि मात्र से भाषा बदलती होती तो पाकिस्तान और भारत की पंजाबी भी अलग-अलग भाषाएँ होनी चाहिये थीं। बल्कि हिंदी खुद ही नागरी के अलावा, मोड़ी, कायथी और रोमन तक में लिखी जाती रही है, वह तो वही रही। तमिळों के एक संकुचित वर्ग के हिंदी विरोध पर क्रुद्ध होने वाले हिंदी भाषियों को यह भी अवश्य सोचना चाहिये कि हममें से कितनों ने तमिळ, तुलु या मणिपुरी सीखने का प्रयास किया या अपने बच्चों को उनकी कक्षा में भेजा? बात यहीं नहीं ठहरती। दूसरी भारतीय भाषा सीखना तो दूर, कितने ही हिंदीभाषियों ने कभी अपनी हिंदी सुधारने तक की कोशिश नहीं की।

कई हिंदीसेवक सर्वस्वीकृति के लिये हिंदी को सरल करने की बात कहते हैं। यह बात एकदम निरर्थक है क्योंकि भाषा की सरलता का कोई निश्चित पैमाना नहीं है। जितना आपको पता है वह सरल है, जिसके लिये प्रयास करना है वह कठिन है। अंग्रेज़ी-उर्दू के कठिन शब्दों को जानने के लिये भरसक प्रयत्न करने वाले जब हिंदी की शुद्धता पर नाक-भौं सिकोड़ते हैं तो यह हिंदी के प्रति उनकी प्रतिबद्धता का अभाव ही दर्शाता है। आप भाषा को जितना कमज़ोर करते रहेंगे, वह उतना ही जनाधार खोती जायेगी। अंग्रेज़ी कमज़ोर होती तो संसार पर राज नहीं करती। उसकी शक्ति से हमें सबक लेना चाहिये कि वह कविता-लघुकथा तक सीमित न रहकर किसी भी विशिष्ट वैज्ञानिक वाङ्मय लिखने की क्षमता रखती है। हिंदी की स्वीकार्यता बढ़ानी है तो उसे सक्षम बनाना ही होगा।

हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को विवश करने में एक ऐसी विशिष्ट भारतीय परिस्थिति की प्रमुख भूमिका रही है जिस पर शर्म करने के बजाय हम सामान्यतः गर्व करते दिखते हैं क्योंकि हम उसे सतही रूप से देख रहे होते हैं। और वह है भारतीय शिक्षा व्यवस्था का असंतुलन। संसार भर के विकसित देशों में १०-१२ वर्ष की मूलभूत शिक्षा प्रशासन का कर्तव्य और जनता का अधिकार है, निशुल्क है, और शत-प्रतिशत है। ऐसे बहुत से देशों में विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा सामान्यतः मँहगी है। भारत जैसे देश में जहाँ उच्च शिक्षा को इतनी सब्सिडी दी जाती है कि कई लोग समय बिताने के लिये भी विश्वविद्यालय में नज़र आते हैं (इसे कटाक्ष की तरह ही लें), वहीं प्राथमिक से लेकर उच्चतर-माध्यमिक शिक्षा को उसकी जायज़ प्राथमिकता नहीं मिलती। इस कारण एक बड़ा वर्ग शिक्षा के मूलाधिकार से वंचित रह जाता है। हिंदी सहित सभी भारतीय भाषाओं का दुर्भाग्य यह है कि शिक्षा के अधिकार से वंचित यह वर्ग अंग्रेज़ी का नहीं बल्कि भारतीय भाषाओं का वक्ता और प्रवक्ता है, जबकि उच्च-शिक्षा की भीड़ के जीवन में हिंदी के लिये अपेक्षा कम उपेक्षा अधिक है। यदि आज तक आप भारत द्वारा एमबीबीएस-एमटैक-एमबीए-पीएचडी के थोक-उत्पादन करने पर गर्व करते रहे हैं तो अब एक बार तनिक रुककर इस असंतुलन पर ध्यान दीजिये। यदि वंचित वर्ग को शिक्षा मिलती तो हिंदी सक्षम होती क्योंकि उच्च-शिक्षा में उनकी उपस्थिति, वहाँ हिंदी की कमी की समस्या को उजागर करने में सहायक सिद्ध होती और अंततः हिंदी को व्यापक बनाती।

अंत में सम्पर्क भाषा की बात। वर्तमान काल में हिंदी भारत की ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय उपमहाद्वीप की सम्पर्क भाषा है। अमेरिका में न केवल भारतीय बल्कि नेपाली, भूटानी, बांग्लादेशी, पाकिस्तानी और अफ़गान नागरिक भी हिंदी में वार्तालाप करते हैं। हिंदी को सम्पर्क भाषा की सीमा से आगे बढ़कर अपना अधिकार और अपनी शक्ति पहचानने और पाने की आवश्यकता है। और इसे सम्भव बनाने के लिये हम हिंदीभाषियों को अभी बहुत काम करना है।■

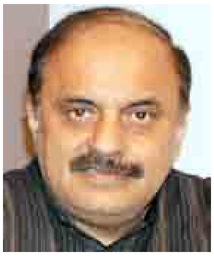

तेजेन्द्र शर्मा

२१ अक्टूबर १९५२ को जगरांव, पंजाब में जन्म। दिल्ली विवि से अंग्रेजी में एमए और कंप्यूटर साइंस में डिप्लोमा। दूरदर्शन के लिये शांति सीरियल का लेखन। फिल्म *अभय* में नाना पाटेकर के साथ अभिनय। प्रमुख कृतियाँ : कहानी संग्रह : काला सागर, ढिबरी टाईट, देह की कीमत, यह क्या हो गया!, बेघर आँखें, सीधी रेखा की परतें, कब्र का मुनाफा तथा दीवार में रास्ता। कविता संग्रह : ये घर तुम्हारा है, मैं कवि हूँ इस देश का। महाराष्ट्र राज्य साहित्य अकादमी पुरस्कार, केंद्रीय हिंदी संस्थान का मोटरी सत्यनारायण सम्मान, उत्तरप्रदेश हिंदी संस्थान का प्रवासी साहित्य भूषण सम्मान, हरियाणा साहित्य अकादमी का प्रवासी साहित्यकार सम्मान, भारतीय उच्चायोग, लंदन का हरिवंशराय बच्चन सम्मान से सम्मानित। सम्प्रति - लंदन में निवास।

सम्पर्क : kahanikar@gmail.com

विमर्श

भारतवंशियों की आधुनिक पीढ़ी

हम जब भी इंग्लैण्ड में हिंदी के विषय में बात करते हैं तो हम भावनात्मक हो जाते हैं और अपनी तर्कशक्ति को ताक पर रख देते हैं। हम यह सोच कर नाराज़गी ज़रूर ज़ाहिर करते हैं कि युनाईटेड किंगडम में कभी जीसीएससी में हिंदी एक एच्छिक विषय के तौर पर पढ़ाई जाती थी। आज स्कूलों में हिंदी कहीं नहीं दिखाई देती। हिंदी मंदिरों और निजी शिक्षकों के घरों तक सीमित हो गई है।

आज वस्तुस्थिति यह है कि एक भाषा के रूप में इंग्लैण्ड में हिंदी का वर्तमान बहुत संतोषजनक नहीं है और इसके भविष्य के लिए भी बिना अति आशावादी बने हमें केवल कर्म करना सीखना होगा। अतीत में हिंदी इंग्लैण्ड में स्कूलों में एक एच्छिक विषय के तौर पर पढ़ाई जाती थी, लेकिन हिंदी स्कूलों से ग़ायब हो गई क्योंकि उन स्कूलों में हिंदी पढ़ने वाले विद्यार्थी मिल नहीं पा रहे थे।

आजकल इंग्लैण्ड में बहुत-सी ग़ैर-सरकारी संस्थाएं हिंदी भाषा, साहित्य और संस्कृति के प्रचार-प्रसार के कामों में जुटी हैं। देशभर में हिंदी ज्ञान प्रतियोगिताएं करवाई जा रही हैं, कहानी कार्यशालाएं की जा रही हैं, हिंदी में कम्पयूटर में कामकाज पर ध्यान दिया जा रहा है। लेकिन बिना किसी विश्वविद्यालय से पंजीकृत हुए बिना यह गतिविधियां आधिकारिक स्वरूप नहीं पा सकती हैं।

हमें भावनाओं को तज कर इस ओर ध्यान देना होगा कि आखिर ऐसा हुआ क्यों। जब हम भारत से इंग्लैण्ड आए प्रवासियों पर नजर डालें तो पाएंगे कि भारत से इंग्लैण्ड आने वालों में सबसे अधिक संख्या गुजरात एवं पंजाब प्रदेशों से है। पंजाब से आने वालों में भी सिख धर्म के अनुयाईयों की संख्या कहीं अधिक है, जिनकी मातृभाषा हिंदी नहीं पंजाबी है। इसके अतिरिक्त तमिल, बंगाली एवं महाराष्ट्रियन भी काफ़ी संख्या में यहां प्रवासी बनकर आए। इन सभी के लिए हिंदी बोलचाल की भाषा तो थी, लेकिन कहीं भी लिखने-पढ़ने वाली भाषा नहीं थी। इसलिए जब पहली पीढ़ी के प्रवासियों ने पाया कि उन्हें विलायत में सबसे अधिक समस्या उन्हें अंग्रेजी न आने से हो रही है तो उन्होंने अपनी आगामी पीढ़ी से घर में तो अपनी मातृभाषा में बातचीत जारी रखी लेकिन बाहर दुनिया से संघर्ष करने के लिए उन्हें अंग्रेज़ी सीखने के लिए बढ़ावा दिया। यानि इंग्लैण्ड आने वाले अधिकतर भारतीय मूल के परिवारों के लिए हिंदी मात्र एक बोली थी जिसके माध्यम से वे दूसरे राज्य के रहने वालों से बातचीत कर सकते थे यानि संपर्क भाषा। और संपर्क भाषा भी निम्न मध्य वर्ग के लोगों के लिए। मध्य वर्ग या फिर उच्च मध्य वर्ग की संपर्क भाषा अंग्रेजी ही थी। हमें याद रखना होगा कि यह भी प्रवासियों की पहली पीढ़ी तक ही सीमित था। उसके बाद की पीढ़ियों की अपनी एक जबान बन चुकी थी - अंग्रेज़ी।

हिंदी बोलने वाले परिवारों में भी बच्चों को यही कहा जाता था, 'अरे हिंदी सीख लो। कल को भारत जाओगे, तो दादी और नानी से कैसे बात करोगे।' जो लोग अपने बच्चों को यह समझाया करते थे, आज वही दादा-दादी और नाना-नानी बन चुके हैं। और उन सबको अंग्रेज़ी आती है। इसलिए उनके लिए आज के बच्चों को दादी और नानी के हवाले देकर हिंदी सीखने के लिए कहना भी संभव नहीं।

पहली पीढ़ी के प्रवासियों के पास न कोई ज़रिया था और न ही हिम्मत कि वे हिंदी के लिए समय निकाल पाते। शायद उन्हें इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। उस समय न तो कोई हिंदी का रेडियो स्टेशन था और न ही किसी अंग्रेज़ी के रेडियो अथवा टेलिविज़न सेन्टर से ही कोई हिंदी के कार्यक्रम प्रसारित होते थे।

> मेरी गुजराती पत्नी मेरे छोटे पुत्र से (जिसका जन्म लंदन में ही हुआ था) गुजराती में बात करती है। मेरा पुत्र उसे हिंदी में जवाब देता है लेकिन मेरी ओर देखते ही अंग्रेजी में बात करने लगता है। है न ख़ासी दिलचस्प स्थिति!

अस्सी के दशक में विडियो रिकॉर्डर की लोकप्रियता और हिंदी फ़िल्मों की कानूनी और ग़ैर-कानूनी वीडियो केसेटों ने इंग्लैण्ड में हिंदी को लोकप्रिय बनने का अचानक एक अभूतपूर्व अवसर प्रदान किया। बच्चे-बड़े सभी इकठ्ठे बैठकर अमिताभ बच्चन की फ़िल्में देखा करते थे। शोले फ़िल्म के डायलॉग याद करके इंग्लैण्ड के बच्चे भारत से आने वाले अतिथियों पर अपने हिंदी ज्ञान की धाक जमाते थे। प्रवासियों की पहली पीढ़ी को भी अचानक जैसे अपने पैरों तले एक नई ज़मीन का अहसास होने लगा था।

स्कूलों में हिंदी पढ़ने की न तो किसी को आवश्यकता महसूस होती थी और न ही किसी को इस बात का ख़्याल ही आता था। हिंदीभाषी परिवारों को इस बात की प्रसन्नता थी कि उनकी संतानें कम से कम हिंदी बोलने तो लगी हैं। वहीं ग़ैर हिंदीभाषी परिवारों के लिए हिंदी फ़िल्में भारत से जुड़ने के एक साधन के रूप में उभरकर आई थीं।

इंग्लैण्ड में भारत से जुड़ाव के लिए हिंदी फ़िल्मों के अतिरिक्त भारतीय क्रिकेट का भी खासा योगदान रहा। ख़ासतौर पर कपिल देव की टीम द्वारा १९८४ में क्रिकेट के विश्व कप विजेता के रूप में उभरकर आने से भी यहां के बच्चों का भारत के प्रति अधिक सकारात्मक रुख पैदा हुआ। यही वह समय भी था जब बीबीसी ने रामायण और महाभारत जैसे विशुद्ध भारतीय टेलिविज़न सीरियल अपने चैनल पर दिखाने शुरू किये। भारतीय परिवारों के पास आज भी उन सीरियलों की रिकॉर्ड की गई वीडियो कैसेट मिल जाएंगी। भारतीय मूल के परिवारों में हिंदी का माहौल पैदा करने में इन दो महत्वपूर्ण सीरियलों का योगदान कभी नहीं भुलाया जा सकता।

ज़ी. टीवी का आगमन इंग्लैण्ड में हिंदी के लिए एक महत्वपूर्ण घटना माना जा सकता है। अब उन घरों की दीवारें भी हिंदी सुन सकती थीं जहां पहली, दूसरी या तीसरी पीढ़ी या तो अपनी मातृभाषा में बातचीत करती थीं या फिर अंग्रेजी में। भारत में भी हिंदी फ़िल्में मुख्यधारा की फ़िल्में मानी जाती हैं तो अन्य भाषाओं की फ़िल्में केवल क्षेत्रीय सीमाओं में बँधकर रह जाती हैं। फिर मराठी, गुजराती, पंजाबी, हरियाणवी, आदि भाषाओं की आम फ़िल्मों का स्तर भी कुछ विशेष अच्छा नहीं होता। इसलिए भी ज़ी. टीवी के लिए यह एक महत्वपूर्ण पल था और उनके सामने कोई प्रतियोगी भी नहीं था। लेकिन एक बात देखी गई कि भारतीय मूल के ब्रिटिश बच्चे बॉलीवुड की फ़िल्मों में तो रुचि रखते हैं वहीं टेलीविजन सीरियल क्योंकि लम्बे खिंचते जाते हैं, यहां के बच्चे उनसे कतराते हैं।

हिंदी की मूलभूत समस्या यह भी है कि भारत में ही उसको उसका उचित स्थान नहीं मिल पाया है। विदेशों में अब तक हुए सभी विश्व हिंदी सम्मेलनों में एकमत से यह प्रस्ताव पारित किया जाता रहा है कि 'हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा बनाया जाए।' किसी भी भाषा के साथ इससे बड़ा मज़ाक हो ही नहीं सकता जो भाषा किसी देश की संसद की भाषा बनने के काबिल भी नहीं मानी जाती, उसे संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा क्यों और किसके लिए बनाया जाए। जब कोई भूतलिंगम या श्रीनिवासन संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत का प्रतिनिधित्व करेगा तो उसे स्वयं ही हिंदी भाषा समझ नहीं आएगी। तो फिर यह नाटक किसके लिए कि हिंदी को संयुक्त राष्ट्र संघ की भाषा बनाया जाए। उसे वहां सुनेगा कौन? जब भारतीय मूल के लोग अपने बच्चों को भारत यात्रा पर लेकर जाते हैं तो बच्चे यह देख कर हैरान हो जाते हैं कि भारत में उनके समव्यस्क हिंदी बोलना छोटेपन का द्योतक मानते हैं। वहां का युवावर्ग इंग्लैण्ड के युवाओं से अधिक अंग्रेज़ीदां है।

यह पूछना एक फ़ैशन सा भी बन गया है कि यदि जापान और जर्मनी बिना अंग्रेज़ी के आर्थिक ऊंचाईयों तक पहुंच सकते हैं, तो फिर भारत में हिंदी की इतनी दुर्दशा क्यों। भारत एक विशाल देश है जिसकी एक भाषा कभी भी नहीं रही। हिंदी कभी भी भारत में राजकाज की भाषा नहीं रही है। यह कभी संस्कृत थी तो कभी फ़ारसी तो कभी उर्दू। और आज यह स्थान अंग्रेज़ी के हिस्से में है। इसलिए यह प्रश्न एक प्रकार से बेमानी सा हो जाता है। जो भाषा कभी भी पूरे भारत की भाषा नहीं रही, वो भला जापानी या जर्मनी भाषा का मुक़ाबला किस प्रकार कर सकती है। कहीं-कहीं ग़लतफ़हमी यह भी है कि हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा है। वास्तविकता यह है कि हिंदी को भारत की राजभाषा घोषित किया गया था और जब तक हिंदी पूरी तरह से कामकाज के काबिल नहीं बन जाती राजकाज का काम अंग्रेज़ी में भी किया जाएगा। यह 'अंग्रेज़ी में भी' आजतक 'अंग्रेजी में ही' बना हुआ है। भारत सरकार पचपन वर्षों में भी हिंदी को इतना सक्षम नहीं बना पाई है कि राजकाज का काम हिंदी में किया जा सके। 'अंग्रेज़ी में भी' के स्थान पर सरकारी काम काज 'हिंदी में भी' करवाया जाता है।

एक उदाहरण अपने घर से भी देना चाहूंगा। मेरी गुजराती पत्नी मेरे छोटे पुत्र से (जिसका जन्म लंदन में ही हुआ था) गुजराती में बात करती है। मेरा पुत्र उसे हिंदी में जवाब देता है लेकिन मेरी ओर देखते ही अंग्रेजी में बात करने लगता है। है न ख़ासी दिलचस्प स्थिति! ■

रमेश जोशी

१८ अगस्त १९४२ को चिड़ावा, राजस्थान में जन्म। राजस्थान विश्वविद्यालय से एम.ए. और रीजनल कालेज ऑफ एज्यूकेशन भोपाल से बी.एड., पोरबंदर से पोर्ट ब्लेयर तक घुमक्कड़ी, प्राथमिक शिक्षण से प्राध्यापकी करते हुए केन्द्रीय विद्यालय जयपुर से सेवानिवृत्त। संप्रति : अमरीका में अंतर्राष्ट्रीय हिंदी समिति की त्रैमासिक पत्रिका 'विश्वा' के प्रधान संपादक। मूलतः व्यंग्यकार, गद्य-पद्य की १० पुस्तकें प्रकाशित। ब्लॉग - jhoothasach.blogspot.com

संपर्क : 10046, Parkland Drive Twinsgburg, OH-44087 USA Email : joshikavirai@gmail.com

व्याख्या

आस्था और उत्सव

पुनर्विचार की आवश्यकता

इस दुनिया में, विशेषरूप से पुराने देशों में आस्था और परंपरा के नाम पर तत्त्वज्ञान को इतने आवरणों और मौखिक व लिखित गर्द-ओ गुबार ने इस कदर ढँक लिया है कि उनके पीछे के सच को, और यदि है तो, थोड़ी बहुत तत्कालीन वैज्ञानिकता को ढूँढ़ पाना असंभव-सा है।

इसीलिए परंपरा को परम अर्थात परमपिता परमात्मा से भी बढ़कर माना जाता है। यह बात परंपरा शब्द का विच्छेद करके समझा जा सकता है- परम्+परा=परंपरा, परम से भी परे जाकर उसे घेर सकने वाली शक्ति, परंपरा। परम् एक है, निरपेक्ष और निष्पक्ष है, अपने नियमों में किसी कार्य-कारण संबंध से बँधा है, तर्क्य और शोधनीय है, सच है या सच होने को तत्पर है।

आस्थाएँ किसी सीमित अनुभव पर आधारित होती हैं या किसी तात्कालिक उद्देश्य के लिए निर्मित की जाती हैं। आस्था व्यक्ति को अपनी शक्ति, ध्यान, प्रयत्न व संसाधनों को समेटने तथा एकाग्र और अनुशासित होकर अध्यवसाय करने के लिए प्रेरित करती हैं और यह एकनिष्ठ आस्था कभी-कभी जादू जैसा चमत्कार भी कर देती है। लेकिन जब आस्था में निरंतर विवेक, ज्ञान, जिज्ञासा और तर्कपूर्ण संवाद का अभाव हो जाता है तो उस आस्था को अंध-विश्वास, कट्टरता, अज्ञान औ उग्रता बनते देर नहीं लगती। ऐसी आस्था में मनुष्य को दैवीय, अलौकिक और श्रेष्ठता के भ्रम में डालकर अनुचित कामों के लिए भी प्रेरित किया जा सकता है। उसे एक शिकारी कुत्ता, एक मानव बम भी बनाया जा सकता है। यह आस्था किसी भी धर्म, पार्टी या व्यक्ति के लिए भी निर्मित की जा सकती है। आस्था का लक्ष्य जितना छोटे होता है आस्था उतनी की सीमित, एकांगी और तर्क-संवाद विरोधी होती है।

जब आस्थाएँ किसी स्वार्थ या षड्यंत्र के तहत निर्मित की जाती हैं तो वे बहुत खतरनाक हो सकती हैं और उनके परिणाम सारी दुनिया को भुगतने पड़ सकते हैं जैसे कि जातीय या नस्लीय श्रेष्ठता की अवधारणा, धर्म, जाति,

> समय-समय पर आस्थाओं, उत्सवों और परम्पराओं को संवाद, तर्क और वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसने से वे हमारे लिए अधिक उपयोगी हो सकते हैं। उनकी तार्किक और वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए हमें डरना नहीं चाहिए कि कहीं ऐसा करने से हमारी संस्कृति, अस्मिता और पहचान तो खतरे में नहीं पड़ जाएगी?

नस्ल के आधार पर घृणा का अतार्किक प्रचार। आज के समय में दुनिया की बहुत-सी समस्याओं का कारण ऐसी स्वार्थवश फैलाई गई धारणाएँ हैं जो कालांतर में आस्था का रूप भी ले सकती हैं।

चूँकि आस्था का आधार प्रायः व्यक्तिगत होता है इसलिए उसे कट्टरता बनते देर नहीं लगती। तर्क पर आधारित न होने के कारण वह सरलता से अज्ञान से जुड़ सकती है। इसीलिए चतुर और आस्था का अपने स्वार्थ के लिए दुरुपयोग करने वाले हर बात में परंपरा की दुहाई देते हैं और बिना कोई कारण बताए अपने स्वार्थ के लिए आवश्यक अंधविश्वास या अनुयायियों की मूर्खता को चालू रखना चाहते हैं। श्रीलंका में भारत मूल के विद्वान और आचार्य कावूर ने अपने समय में चमत्कार दिखाकर लोगों में अपने हित के लिए अंधश्रद्धा फ़ैलाने वाले तथाकथित बाबाओं को खुली चुनौती दी थी लेकिन किसी ने उसे स्वीकार नहीं किया। ऐसे श्रद्धालु या अनुयायी अन्धश्रद्धा के विरुद्ध जागृति फ़ैलाने वालों की हत्या तक कर देते हैं और अंधश्रद्धा से ग्रसित लोगों और अंधश्रद्धा से लाभान्वित होने वाले घटकों के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती। उन्हें उसमें हत्या के अपराध में न्याय मिलने और अपराधी को दंड देने जैसी सामान्य संवेदनात्मक प्रतिक्रिया भी नहीं होती। वे अपनी शक्ति उस हत्या का औचित्य सिद्ध करने में लगा देते हैं। यह दुगुनी चिंता की बात है।

कोई भी उत्सव अपने परिवेश, जीवन शैली, जीविकोपार्जन के तरीके और देश-काल से संबंधित होता है। जिस क्षेत्र और काल विशेष में उसकी शुरुआत होती है वे ही समय और स्थान यह तय करते हैं कि वह उत्सव कब, कैसे और किन उपादानों से मनेगा? जब किसी उत्सव को किसी आस्था, परंपरा और मूल तरीके से अतार्किक रूप से जोड़ दिया जाता है तो वह भी अपनी उपयोगिता और आनंद खोकर एक शुष्क कर्मकांड बन जाता है।

क्या हम अपनी आस्थाओं और उत्सवों के बारे में तार्किक रूप से विचार करना चाहेंगे? क्या उन्हें वास्तव में आनंद, सामूहिकता, सरसता और मानसिक विकास का अवसर बनाना या उन्हें अंधविश्वास, रूढ़ता और विभेद से जोड़कर झगड़े का बहाना बनाना चाहते हैं? समय-समय पर अपनी आस्थाओं, उत्सवों और परम्पराओं को संवाद, तर्क और वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसने से वे हमारे लिए अधिक उपयोगी हो सकते हैं। उनकी तार्किक और वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए हमें डरना नहीं चाहिए कि कहीं ऐसा करने से हमारी संस्कृति, अस्मिता और पहचान तो खतरे में नहीं पड़ जाएगी?

इन विषयों पर विचार करते समय हमारे विचार के दायरे में सभी धर्म और समाजों के त्यौहार, प्रतीक, रूपक, प्राचीन ग्रन्थ, देवता, ईश्वर आदि सब आ जाएँगे। यह साहस दिखाए बिना इन क्षेत्रों में फैली हुई कुरीतियाँ, अंधविश्वास ख़त्म नहीं होंगे और जीवन सहज नहीं होगा। किसी व्यक्ति या किन्हीं व्यक्तियों के समूह के निजी स्वार्थ की बात और है अन्यथा दुनिया में सभी समाजों में समय-समय पर ऐसे प्रयत्न, प्रयोग, विचार और सुधार हुए हैं। यदि ऐसा नहीं हुआ होता तो नए-नए धर्म और नए-नए विचार कहाँ से आते? फिर तो किसी क्षेत्र में कभी एक बार कायम हो चुकी सामाजिक, आर्थिक, व्यावहारिक व्यवस्था बदलती ही नहीं। लेकिन देशों और दुनिया में परिवर्तन होते रहे हैं। इसका यही अर्थ है कि अंतिम कुछ नहीं है। इस सृष्टि के हित के लिए, बेहतर की तलाश के लिए निरंतर संवाद, विचार, चिन्तन, प्रयोग और परिवर्तन होते रहने चाहिए।

आइए, आस्था और उत्सव की निरंतर सार्थकता के लिए पुनर्विचार का साहस जुटाएँ।■

डॉ. दानूता स्ताशिक

पोलैंड की राजधानी वारसा में जन्म। १९८४ में वारसा विश्वविद्यालय से भारत-विद्या (हिन्दी) में एम.ए., १९९० में साहित्य-शास्त्र में पी.एच-डी. और २००२ में habilitation की उपाधियाँ प्राप्त कीं। २००३ से प्राच्य-विद्या विभाग के दक्षिण-एशिया की अध्यक्षा। हिन्दी साहित्य में प्रवासी भारतीयों के जीवन पर शोध-कार्य, इससे संबंधित अँग्रेज़ी में Out of India, Image of the West in Hindi Literature (1994) तथा राम-साहित्य पर The Infinite Story. The Past and Present of the Ramayanas in Hindi (2009) किताब प्रकाशित। प्रख्यात कवियों अज्ञेय, कुँवर नारायण, अशोक वाजपेयी तथा मंगलेश डबराल की कविताओं का पोलिश में अनुवाद। सम्प्रति - वारसा विश्वविद्यालय के दक्षिण एशिया विभाग में हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रोफ़ेसर। संपर्क : d.stasik@uw.edu.pl

शोध

तुलसीदास के पूर्व हिंदी साहित्य में रामायण परम्परा का उद्भव

अँग्रेजी से अनुवाद - अतुल अग्रवाल

कुछ लेखक इस बात पर ज़ोर देते हैं कि सबसे प्राचीन रामकथा हिंदी साहित्य जितनी ही प्राचीन है। इस बात के पक्ष में वे चंद या चंदबरदाई द्वारा रचित 'पृथ्वीराज रासो' का हवाला देते हैं। राम-चरित की यह कथा काव्य के बृहत्तम संस्करण अथवा तथाकथित बृहत् रूपांतर, जो कि नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा १९०४ और १९१४ में प्रकाशित किया गया है और विष्णु के दशावतारों के वर्णन में शामिल किया गया है, के अध्याय २ (समय दो) का एक भाग है। प्रत्येक अवतार को समर्पित पंक्तियों की संख्या को देखने के बाद यह प्रतीत होता है कि इस काव्य के लेखक(कों) की कृष्ण, जिनका वर्णन ६५६ पंक्तियों में किया गया है, में विशेष रुचि थी। राम, जिन्हें १४८ पंक्तियां समर्पित थीं, वे नरसिंह (१५५ पंक्तियां) के बाद तीसरे स्थान पर आते हैं। कथा का मुख्य भाग लंका पर युद्ध से जुड़ी घटनाओं को समर्पित है, जो स्वयं काव्य के पात्र से प्रभावित हुआ प्रतीत होता है। हालांकि, पृथ्वीराज रासो के विद्यमान मूलपाठ की प्रामाणिकता के विषय में बहुत संदेह और यह तथ्य कि केवल इसके एक ही संस्करण (अर्थात् बृहत रूपांतर) में राम-चरित की कथा है, को ध्यान में रखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि इस रूपांतर का विचार-विमर्श करने में अत्यंत सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

ईश्वरदास, जो कि अवधी में लिखी गई प्राचीनतम विद्यमान कृति ('सत्यवती कथा', १५०१) के रचयिता माने जाते हैं, ने भी राम-कथा से सम्बन्धित दो कृतियों 'भरत बिलाप/विलाप' और 'अंगद पैज' (१५०२) की रचना की। इन दोनों कृतियों का उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा के हिंदी में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज की रिपोर्टों में किया गया है। इनमें पहली कृति का उल्लेख सन् १९२३-१९२५ की रिपोर्ट में किया गया है, जबकि सन् १९४४-१९४६ की रिपोर्ट में दोनों का विवरण उनके संक्षिप्त उद्धरण के साथ दिया गया है। 'भरत बिलाप', जिसका रचना-काल निश्चित नहीं है, का संपादन शिवगोपाल मिश्र द्वारा परवर्त्ती की कई पाण्डुलिपियों के आधार पर किया गया और १९५८ में इसका प्रकाशन किया गया। इसके संपादक ने यह नोट कर लिया कि यद्यपि पाठ को देखते हुए इन सारी पाण्डुलिपियों में काफी समानता दिखाई देती है, साथ ही इन पाण्डुलिपियों से यह भी प्रकट होता है कि इनकी रचना विभिन्न कवियों द्वारा की गई है। उदाहरण के लिए, शिवगोपाल मिश्र द्वारा प्रयुक्त की गई प्राचीनतम पाण्डुलिपि (सन् १७५९) से काव्य के रचयिता का नाम तुलसीदास प्रकट होता है; जो कि

काशी की रामलीला का एक दृश्य

सूरदास द्वारा रचित प्रसिद्ध सूरसागर, जिसका सूत्रपात साधारणत: तुलसीदास के पूर्व अथवा उनके समकालीन हुआ था, रामकथा का अब तक का एक और हिंदी में प्रभावशाली ढंग से कहा गया महाकाव्य है और यह संपूर्ण रामकथा का एक भाग है।

संभवतः इस पाठ की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए दिया गया है। हमारी रुचि की दूसरी कृति 'अंगद पैज' है, जो अंशतः अपूर्ण अधूरी पाण्डुलिपियों, जिसमें से एक सन् १७३३ की है, के आधार पर रामकुमारी और शिवगोपाल मिश्र के संपादन में सन् १९७९ में प्रकाशित हुआ। कुछ विद्वानों का सुझाव है कि असल में दोनों काव्य, अपने विद्यमान रूप में, राम चरित की पूरी कथा पर आधारित किसी बृहत्तर कृति के अंश हो सकते हैं। नि:संदेह यह एक दिलचस्प अनुमान है, परन्तु यह भी सच है कि इन दोनों रचनाओं का आज तक गहन परीक्षण और आलोचनात्मक संपादन नहीं हुआ है। इसलिए उपलब्ध प्रकाशित संस्करणों को केवल अनंतिम माना जा सकता है।

सूरदास रचित प्रसिद्ध 'सूरसागर', जिसका सूत्रपात साधारणतः तुलसीदास के पूर्व अथवा उनके समकालीन हुआ था, में रामकथा का एक और हिंदी में प्रभावशाली ढंग से कहा गया रूपांतर है जो कि एक बृहत्तर रचना का एक भाग है। न केवल हिंदी साहित्य, वरन् उत्तर भारत के धार्मिक जीवन में इसकी महत्ता को ध्यान में रखते हुए यह भाषांतर हमारा विशेष ध्यान आकर्षित करता है।

'सूरसागर' में रामकथा :

"सूरसागर', न केवल भक्तिकाल में रचित सबसे महत्वपूर्ण कृतियों में से एक है, बल्कि सामान्य रूप से यह हिंदी साहित्य की भी एक महत्वपूर्ण कृति है। इस कृति की प्रशंसा कृष्ण को समर्पित पद्य की शानदार उपलब्धियों में से एक के रूप में की जाती है। हालांकि सबसे पहले तो यह कृष्ण के सत्कर्मों को महिमामंडित करती है और इसमें रामकथा का आनन्ददायक प्रस्तुतीकरण भी किया गया है।

हालांकि, जब हम सूरसागर की बात करते हैं, तब यह ध्यान रखना महत्वपूर्ण हो जाता है कि आज पर्यंत इसके इतिहास ने गहन चर्चा को उकसाया ही है।

संचरित्र स्रोतों से उद्भूत परम्परा विशेषकर गोकुलनाथ (१५५१-१६४०) द्वारा रचित ग्रंथ 'चौरासी वैष्णव की वार्ता' इस बात को बल प्रदान करती है कि सूरदास का जन्म सन् १४७८ में दिल्ली के निकट सिरी नाम ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। यह भी कहा जाता है कि वे जन्मांध थे, परन्तु उपहार में मिली उस अंतर्दृष्टि को धन्यवाद, जिसके कारण वे कृष्ण के देवत्व के सभी रूपों को महसूस कर पाए। युवावस्था के प्रारंभ में, सूरदास पुष्टिमार्गी संप्रदाय के संस्थापक वल्लभ (१४७९-१५३१) के संपर्क में आए और उनके शिष्य बन गए। उन्होंने अपनी बाकी की ज़िंदगी कृष्ण को समर्पित पदों को लिखने और गाने में व्यतीत की। यह परम्परा भी हमें यह बताती है कि सूरदास की मृत्यु सन् १५८२ में हुई थी।

सूरदास के पदों की व्यापक लोकप्रियता ने अवश्य ही उनके आख्यान के उत्थान को प्रभावित किया, जो कि समय के साथ बढ़ता गया और मौखिक संचरण द्वारा वल्लभी संप्रदाय परम्परा में और इसके बिना रूपांतरित होता गया। इस विकास के साथ-साथ, सूरदास के नाम के साथ अर्थात् उनके काव्यात्मक हस्ताक्षर (भनीता या चाप) के साथ पदों की संख्या भी बढ़ी। उन दूसरे कवियों और संकलनकर्ताओं को धन्यवाद, जिन्होंने उनके नाम से कई पदों की रचना की। अंततः, ये पद भागवत पुराण के अनुसरण में गढ़े और संगृहीत किए गए। इस पूरी कार्यविधि का नतीजा हमें नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित विद्यमान मानक सूरसागर में दिखाई देता है, परम्परा द्वारा सूरदास द्वारा रचित माने गए १,२५,००० पदों में से लगभग ५००० पद (यथार्थतः ४९२७ पद) समाविष्ट हैं। समकालीन अध्येताओं के इसमें कोई संदेह नहीं है कि सूरसागर को ऐसे संग्रह के रूप में देखा जाना चाहिए, जो 'सूरदास परम्परा' का प्रतिनिधित्व करता है, न कि संपूर्ण संग्रह के रूप में, जो कि एक ऐतिहासिक व्यक्ति जो सूरदास थे, द्वारा रचित माना जा सकता है। इसके अलावा, जहां तक विद्यमान ग्रंथ की प्रामाणिकता का प्रश्न है, वो इस तथ्य से आगे और जटिल हो जाता है कि अब तक सूरसागर का कोई संपूर्ण आलोचनात्मक भाषांतर उपलब्ध नहीं है।

सूरसागर में, अपने विद्यमान मानक स्वरूप अर्थात् नागरी प्रचारिणी सभा के संस्करण में भागवत पुराण का अनुसरण करने वाले बारह ग्रंथ जिन्हें स्कंध कहा जाता है, समाविष्ट हैं। वे पदों की संख्या के आधार पर आकार में महत्वपूर्ण रूप से भिन्न हैं। पाँचवें ग्रंथ में जहाँ पदों की संख्या चार है, वहीं सबसे बड़े ग्रंथ में ४३०९ पद हैं। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि पहले से नौवें ग्रंथ तथा ग्यारहवें और बारहवें ग्रंथ में कुल मिलाकर भिन्न-भिन्न आकार के पदों की संख्या सिर्फ ६१८ है, जिनसे संपूर्ण सूरसागर का लगभग

छठवाँ हिस्सा बनता है। सबसे बड़ा स्कंध, जो कि सर्वाधिक लोकप्रिय भी है, कृष्ण को समर्पित है और सामान्यतः यह कृष्णायन के नाम से जाना जाता है।

यह तथ्य कि रामकथा को भी सूरसागर में स्थान प्राप्त हुआ है, भागवत पुराण से उद्भूत परम्परा का पालन करता है, जिसमें विष्णु के दशावतारों, जिनमें कृष्ण को सर्वाधिक विशिष्ट माना गया है, का वर्णन किया गया है। इस प्रकार, इसमें कोई संदेह नहीं रह जाता है कि सूरदास के इष्टदेव कृष्ण थे। कृष्ण यहाँ पूर्णावतार के रूप में अपनी विभिन्न दैवी लीलाएँ करते हुए चित्रित किए गए हैं। इस लीला के मूलतत्वों एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण मूलतत्व एक रूप और नामरूप अर्जित करना है। जिसका यहाँ मुख्य आशय कृष्ण के अवतार से है, परन्तु साथ ही वे हरि, विष्णु, राम और बाकी सब भी हैं वे सृष्टि के मुख्य कारक हैं (उदाहरणार्थ, १.२-४)। इस प्रकार, वास्तव में राम और कृष्ण एक ही ईश्वर के दो नाम हैं और कई अवतरण इस प्रकार के मनोभावों को प्रमाणित करते हैं।

सूरसागर की रामायण से लगभग पूरा नौवाँ ग्रंथ निर्मित है, जिसके कुल १७४ पदों में से १५७ पद रामायण को समर्पित हैं (९.१५-१७२)। मूल कथा वास्तव में वाल्मिकी का अनुसरण करती है, परन्तु समृद्ध रामायण परम्परा का, विशेषकर पुराणों और संस्कृत की कथाओं का प्रत्यक्ष प्रभाव भी देखने को मिलता है। इससे कुछ प्रसंगों का विलोपन भी हुआ है। ऐसे प्रसंग हैं - जैसे सीता का निर्वासन सातवें ग्रंथ में समाविष्ट किया गया है, क्योंकि यह दयालु ईश्वर की भक्ति परिकल्पना के सादृश्य नहीं है। इसीलिए सूरसागर राम के अयोध्या आगमन और उनके राज्याभिषेक के विवरण के साथ समाप्त होती है। नौवें ग्रंथ में वर्णित इस विस्तृत कथा के अलावा, हमें कथा के अन्य बड़े और छोटे संदर्भ भी देखने को मिलते हैं, उदाहरणार्थ, १.३, ४, ११, १३, १८, ३५, ४३, ५९, ६१, ९०, ९२, १७६ या ७.२। रामकथा से संबंधित ऐसे प्रसंगों में से एक सर्वाधिक मनभावन प्रसंग वह है, जिसमें यशोदा बालक कृष्ण को सुलाने के लिए थपकियाँ दे रही हैं और उन्हें राम के सत्कर्मों की कथा सुना रही हैं (१०.१९८-१९९)। जैसे ही वे कहती हैं कि रावण ने सीता का अपहरण कर लिया है, बालक कृष्ण जाग जाता है और अपने पैरों से छलाँग लगाकर चिल्लाता है, 'धनुष, मेरा धनुष, लक्ष्मण! मुझे मेरा धनुष दो!', इससे न केवल राम और कृष्ण के सत्कर्मों की समरूपता बल्कि उन दोनों की स्वयं की भी समरूपता का आसानी से परीक्षण हो जाता है। यह सुनकर माँ यशोदा बालक कृष्ण के सामने विस्मय से खड़ी रह जाती हैं।

हालाँकि, राम के प्रति सूर का मनोभाव अनूठी भक्ति का है अर्थात् यह समर्पण से भरा हुआ है, उनके राम की जब तुलसीदास के राम से तुलना की जाए तो वे ज्यादा सांसारिक और ज्यादा मानवीय हैं। इसमें न तो उनके देवत्व और न ही उनकी वीरता और उदार प्रकृति का बार-बार स्मरण कराया जाता है। काव्यकार की राम के अंतःकरण, उनकी अपनी प्रिय सीता के प्रति कोमल भावनाओं, सीता से वियोग के बाद उनके कष्ट और उनकी आशंका कि क्या वे सीता को रावण की कैद से सकुशल वापस ला पाएंगे, आदि में ज्यादा दिलचस्पी है। इसका एक मनोरम वृत्तांत रामविलाप (९.६२-४) का उस समय का है जब राम को यह ज्ञात होता है कि सीता अदृश्य हो गई हैं। ऐसी परिस्थिति में उनका व्यवहार उन दूसरे पुरुषों जैसा ही चित्रित किया गया है, जैसा दूसरे मनुष्य उस परिस्थिति में करते। वे अपनी प्रियतमा की तलाश के लिए काफी व्यग्र हैं। सीता के प्रति अपने प्रेम में राम इतने व्याकुल हैं कि वे बाकी सब कुछ भूल गए हैं। यहाँ तक कि अपने दैवीय सर्वशक्ति सम्पन्नता को भी। (सूरदास प्रभु प्रिय-प्रेम-बसा, निज महिमा बिसारी; ९.६३)। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर की रामकथा का यह गुण और उसका भावप्रधान चरित्र उनके काव्य के इतिहास से सीधे तौर पर संबद्ध होना चाहिए, जो महाकाव्य कथा की परम्परा से नहीं वरन् भक्तिपरक गीतों की काव्यात्मक परम्परा से उत्पन्न हुआ है।

> **सूरसागर में वर्णित राम के जीवन की कथा समकक्ष नहीं है और इसके उद्भव को देखते हुए यह हमें चौंका देने वाला लगता भी नहीं है। उदाहरण के लिए, पात्रों का एक से अधिक बार प्रस्तुतीकरण और जिन परिस्थितियों में वे कार्य कर रहे हैं उनका इतना संक्षिप्त विवरण कि उसमें और गहरी पहुँच का अभाव है।**

जहां तक रामकथा के संयोजनात्मक और शैलीगत महत्व का संबंध है, सूरसागर में वर्णित राम के जीवन की कथा समकक्ष नहीं है और इसके उद्भव को देखते हुए यह हमें चौंका देने वाला लगता भी नहीं है। उदाहरण के लिए, पात्रों का एक से अधिक बार प्रस्तुतीकरण और जिन परिस्थितियों में वे कार्य कर रहे हैं उनका इतना संक्षिप्त विवरण कि उसमें और गहरी पहुँच का अभाव है। काफी हद तक वाई. च्वेतकोव इस बात को लेकर सही थे कि

सूरदास घटनाओं का काव्यात्मक वर्णन करने में, उज्ज्वल कलात्मक चरित्रों की रचना करने में ज्यादा समय नहीं देते हैं। वे अपने हृदय के सबसे प्रिय लक्ष्य अर्थात् कृष्ण के जीवन के प्रस्तुतीकरण तक पहुँचने की जल्दी में हैं। हालाँकि, इसका मतलब यह भी नहीं है कि सूरदास के वर्णन (telling) में ऐसे अंश नहीं मिलेंगे जो निर्विवाद रूप से शैलीगत महत्व के आधार पर विशिष्ट न हों। इसके विपरीत, इनमें से कई पद नाटकीय लचक के आधार पर विशिष्ट हैं, जो विभिन्न चरित्रों की मानसिक गहराई को प्रकट करते हैं तथा जीवन्त और बड़ी ही भावनात्मक भाषा में लिखे गए हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार हैं, जैसे- रावण के सीता को सम्बोधित करते हुए कहे गए वे शब्द, जब वह सीता को अपनी चौदह हजार सेविकाओं के साथ अपनी पटरानी बनाने और अपने राज्य में उसकी सहभागिता के लिए तैयार हो जाता है (रावण-वचन सीता-प्रति; ९.७९); हनुमान की सीता से भेंट (हनुमान-सीता-मिलन; ९.८३-९५); मंदोदरी की रावण से सीता को वापस राम को सौंपने संबंधी याचना (रावण-मंदोदरी-संवाद; ९.११४-१९) या समुद्र पर बाँध के निर्माण के पहले अपनी सेना को समुद्र पार करने की अनुमति देने के लिए राम द्वारा समुद्र को मनाने का प्रसंग (राम-सागर-संवाद; ९.१२१-३)।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि सूर और उनकी परम्परा भगवान कृष्ण को समर्पित थी, इस बात में कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि राम को अपेक्षाकृत कम महत्व दिया गया। हालाँकि, यह दिलचस्प प्रतीत होता है कि रामकथा को यहाँ स्थान मिला और उसका महत्व इस तथ्य से कुछ फीका नहीं पड़ा है कि भागवत पुराण की परम्परा के साथ अनुपालन की आवश्यकता के नहीं होने के बाद भी संभवतः यह हो गया। इसके परिणामस्वरूप, अब हमारे पास उस शैली को प्रकट करता हुआ अभिलेख है, जिसमें ईश्वर को महसूस किया जा सकता है, एक शैली जो यद्यपि कृष्ण के भक्तों में सर्वाधिक प्रचलित नहीं थी, फिर भी आने वाले समय में वह कभी भी अपसर्जित नहीं की गई। आज की सूरदास परम्परा इसकी गवाह है। सूरसागर के समकालीन भाषांतरों में संकलित पदों से, जो वैष्णव प्रार्थना सभाओं के दौरान और घर पर, एकांत में, गाए और कहे जाते हैं, उस ईश्वर की एक छवि उभरकर सामने आती है, जिसके कई नाम हैं और राम भी उनमें से एक हैं, जिनकी छवि उनके सच्चे सेवक सूर द्वारा सृजित की गई है।

> सूरसागर के समकालीन भाषांतरों में संकलित पदों से, जो वैष्णव प्रार्थना सभाओं के दौरान और घर पर, एकांत में, गाए और कहे जाते हैं, उस ईश्वर की एक छवि उभरकर सामने आती है, जिसके कई नाम हैं और राम भी उनमें से एक हैं, जिनकी छवि उनके सच्चे सेवक सूर द्वारा सृजित की गई है।

विष्णुदास और उनकी रामायण :

काव्यकार का जीवन और उनकी कृतियाँ पन्द्रहवीं शताब्दी में विष्णुदास द्वारा हिंदी में रचित रामायण कथा अब तक की सबसे प्राचीन और स्वतंत्र रामकथा है।

विष्णुदास का नाम पहली बार हिंदी साहित्य पर पश्चिमी स्रोतों से लगभग डेढ़ सौ से ज्यादा वर्ष पहले, महाभारत से प्रेरित लेखक के रूप में, सामने आया था। इसके लिए गार्सिन द टैसी को धन्यवाद। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *क्रेस्टोमैथी हिंदी एट हिंदूई* (१८४९) में विष्णुदास के कलियुग पर आधारित पाठ के कुछ अंश समाविष्ट किए, जो युधिष्ठिर के स्वर्गारोहण के महाभारत प्रसंग से अनुकूलित थे। इसके बाद विष्णुदास के नाम का उल्लेख काफी समय बाद नागरी प्रचारिणी सभा के १९०६-८ के प्रतिवेदनों में दिखा, जहाँ उनका नाम दो कृतियों *महाभारतकथा* और *स्वर्गारोहण* से संबद्ध किया गया। बाद के प्रतिवेदनों (१९४१-३) में भी उनका नाम अन्य पाण्डुलिपियों से संबद्ध किया गया, जिनमें *भास वाल्मिकी रामायण* भी है। विष्णुदास का उल्लेख मिश्र बंधुओं द्वारा रचित कृति *मिश्रबंधु विनोद* में भी मिलता है, जो कि पारम्परिक रूप से भारतीयों द्वारा हिंदी साहित्य के इतिहास की पहली कृति मानी जाती है।

उन कृतियों, जिन्हें विष्णुदास द्वारा रचित माना जाता है, से यह ज्ञात होता है कि वे गोपाचलगढ़ (आधुनिक ग्वालियर) में रहते थे और तोमर राजवंश के राजा डोंगरसिंह के राजकवि थे। उनके जीवनकाल के बारे में कुछ भी स्पष्ट रूप से नहीं दिया गया है, परन्तु उनके काव्य पर तिथियां अंकित हैं- महाभारत का भाषांतर १४३५ में रचा गया और रामायण का १४४२ में।

स्टुअर्ट मैक्गेगोर यह उल्लेख करते हैं कि पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का ग्वालियर पूर्व ब्रजभाषा, जो तोमरों के दरबार में कार्यालयीन प्रयोजनों के लिए ब्रज साक्ष्य के शिलालेखों के तौर पर प्रयुक्त हुई है, में कृष्ण और राम पर आधारित वर्णनात्मक काव्य का गवाह है। इस प्रकार, यद्यपि हम

विष्णुदास के पहले भी कतिपय ब्रजभाषा परम्परा के बारे में बात कर सकते हैं, फिर भी उन्हें 'हिंदी की ब्रजभाषा परम्परा का एक अग्रणी प्रतिष्ठापक' माना जाना चाहिए। यह भी कहा जाता है कि वे ब्रजभाषा का प्रयोग करने वाले पहले काव्यकार थे, जिसे कि १७वीं शताब्दी तक 'भारत की संपूर्ण साहित्यिक भाषा' होने का गौरव प्राप्त हुआ। यहां यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि बिलकुल उसी समय ग्वालियर में विष्णुदास ने राम की पारम्परिक कथा का आख्यान करने में ब्रजभाषा का प्रयोग किया था। यह भी संभव है कि एक नई साहित्यिक अभिव्यक्ति के साधन के रूप में ब्रजभाषा का अभिग्रहण, किसी हद तक, मुस्लिमों के विस्तार के कारण बदली हुई एक नई सामाजिक-राजनैतिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया था। यह भाषा अपभ्रंश की अब तक की सबसे प्रबल परम्परा के पतन की भी साक्षी है, अर्थात् यहां एक मध्य भारतीय-आर्यन भाषा और ब्रजभाषा का बढ़ता सामर्थ्य, अर्थात् एक नई भारतीय-आर्यन भाषा। फिर भी, यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बलभद्र तिवारी, विष्णुदास की भाषा को बुंदेली मानते हैं जो कि प्रमुखतः ब्रज मिश्रित है, परन्तु साथ ही उसमें बड़ी संख्या में संस्कृत तत्सम साथ ही साथ एक प्रत्यक्ष फारसी-अरबी शब्दकोश भी है, जिसे उन्होंने उर्दू के काव्यदोषयुक्त अभिधान से अंकित किया है।

विष्णुदास की रामायण सन् १९७२ में प्रकाशित हुई। उसका पाठ १८६३ में विरचित और सागर विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के संग्रह से प्राप्त एक पाण्डुलिपि पर आधारित है। इस संस्करण को बहुत सावधानी से देखा जाना चाहिए, न केवल इसलिए कि यह एक बाद की पाण्डुलिपि पर आधारित है, बल्कि इसलिए भी कि इसका पाठ, जिसकी वर्तमान स्थिति निश्चित रूप से इसके संपादक की असामयिक मृत्यु के कारण निःसंदेह ही प्रभावित हुई होगी, बिंदुयुक्त रेखाओं अथवा प्रश्नचिह्नों के साथ अस्पष्ट अंशों से भरा पड़ा है। उन पर किसी भी प्रकार से न तो कोई टीका आदि की गई है और न ही उनकी व्याख्या की गई है; एक समुपयुक्त प्रस्तावना का जिसमें कुछ तथ्यों अर्थात् क्या संपादक ने इन खंडों को आगे विश्लेषण के लिए आधा-अधूरा छोड़ा अथवा वे खंड पाण्डुलिपि में ही अव्यक्त हैं, के बारे में कुछ भी सुस्पष्ट रूप से कहा गया हो, अभाव भी इस ग्रंथ में है। इसके अलावा, इस भाषांतर के खंड, हरिहर निवास द्विवेदी द्वारा विष्णुदास की महाभारत के अपने भाषांतर में समाविष्ट किए गए भास वाल्मिकी रामायण के खंडों से व्यापक रूप से भिन्न हैं। इन सब कारणों से, ऐसा सही प्रतीत होता है कि लोकनाथ द्विवेदी के भाषांतर को प्रावधिक मानकर ही पेश आना चाहिए।

इस भाषांतर का अधिकतम पाठ पंद्रह-मोरा चौपाइयों में है, जो यदा-कदा दोहों और अन्य छंदों (संस्कृत श्लोक भी) के साथ बिखरा पड़ा है। इस कृति की शैली यह इंगित करती है कि इसकी रचना वाचिक प्रदर्शन को ध्यान में रखकर की गई थी।

मुख्य कथा वाल्मिकी की कथा के आधार पर रची गई प्रतीत होती है परन्तु इस कृति की संरचना गैर-पारम्परिक है। यह तीन पुस्तकों में विभक्त की गई है, जिनके शीर्षक हैं 'बालकाण्ड, सुन्दरकाण्ड और उत्तरकाण्ड', जो कि हालांकि सप्त-पुस्तकीय पारम्परिक रूपांतर से उद्धृत किए गए हैं। इनमें से पहली पुस्तक इकतीस सर्गों में विभक्त है और हनुमान के लंका प्रस्थान तक की घटना के बारे में अर्थात् उन घटनाओं के बारे में जो पारम्परिक रूपांतर की पुस्तक १ से ४ में समाविष्ट हैं, बताती है। लगभग प्रत्येक सर्ग अपने आप में संपूर्ण है और एक सूत्र के साथ समाप्त होता है। इसमें अधिकतर सर्ग का शीर्षक होता है जो प्रमुख उपाख्यान के बारे में बताता है। उदाहरणार्थ : जहां 'रामायण की बाल्यावस्था वाली पुस्तक' के एक सर्ग का शीर्षक 'श्रंगी के आगमन के बारे में दशरथ की मंत्री से मंत्रणा' है वहीं 'रामायण की बाल्यावस्था वाली पुस्तक' के एक सर्ग का शीर्षक 'तारा का विलाप' है। दूसरी पुस्तक, सुन्दरकाण्ड में, तेरह सर्ग हैं, जो कि मुख्य कथा की पारम्परिक रूपांतर की पुस्तक ५ तथा ६ में वर्णित घटनाओं को समाहित करते हैं। यह हनुमान के लंका अभियान से प्रारंभ होती है। इसमें बाद में युद्ध का विस्तृत विवरण (पांच सर्ग) और रावण के वध के साथ ही राम के अयोध्या आगमन और उनके राज्याभिषेक तक का विवरण दिया गया है। यह पुस्तक रामराज्य अर्थात् राम के न्यायपरायण शासन पर समाप्त होती है। अंतिम पुस्तक नौ सर्गों में विभक्त है और यह मुख्य कथा की

> एक नई साहित्यिक अभिव्यक्ति के साधन के रूप में ब्रजभाषा का अभिग्रहण, किसी हद तक, मुस्लिमों के विस्तार के कारण बदली हुई एक नई सामाजिक-राजनैतिक परिस्थिति की प्रतिक्रिया था। यह भाषा अपभ्रंश की अब तक की सबसे प्रबल परम्परा के पतन की भी साक्षी है।

> हिंदी साहित्य में रामायण परम्परा की शुरुआत वाल्मिकी से गहरे रूप से संबद्ध है। वाल्मिकी का काव्य पूर्ववर्ती हिंदी लेखकों जिनकी रामकथा में रुचि थी और जिनके लिए वे 'मान्य मूल आदर्श' थे, के लिए प्रेरणा का मुख्य स्रोत था। संपूर्ण रामायण परम्परा में वाल्मिकी की भूमिका को देखते यह आश्चर्यजनक है भी नहीं।

हिंदी साहित्य में रामायण परम्परा की शुरुआत वाल्मिकी से गहरे रूप से संबद्ध है। वाल्मिकी का काव्य पूर्ववर्ती हिंदी लेखकों जिनकी रामकथा में रुचि थी और जिनके लिए वे 'मान्य मूल आदर्श' थे, के लिए प्रेरणा का मुख्य स्रोत था। संपूर्ण रामायण परम्परा में वाल्मिकी की भूमिका को देखते यह आश्चर्यजनक है भी नहीं।

अनुपूरक है। बाकी अन्य बातों के अलावा, इसमें राक्षसों की उत्पत्ति और विकास, अहिल्या की कथा, गर्भवती सीता के निर्वासन और तपस्यालीन शूद्र का राम द्वारा वध का वर्णन किया गया है। इस कृति की परिणति राम के न्यायसंगत शासन के चित्रण और उस आकाशवाणी, जो उन्हें यह बताती है कि उनके स्वर्गारोहण का समय हो गया है, के साथ होती है। फलतः राम अपना राज्य अपने पुत्रों, लव और कुश को सौंप देते हैं और स्वर्गारोहण के लिए तैयार होते हैं।

काव्य के प्रत्येक सर्ग का विस्तार अलग-अलग है और ऐसा प्रतीत होता है कि दिए गए प्रसंगों में से जो ज्यादा लोकप्रिय था, उसको ज्यादा ध्यान समर्पित किया गया। यहां सुन्दरकाण्ड, जिसमें कि मुख्यतः राम और रावण के बीच सीधे संघर्ष की कहानी है, सबसे बड़ी पुस्तक है और उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान भी प्राप्त है। यह पूरे काव्य का एक-तिहाई से ज्यादा भाग है। यह इंगित करता है कि काव्यकार के लिए राम और रावण के बीच संघर्ष सबसे आकर्षक विषय था।

जैसा कि पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि विष्णुदास के लिए प्रेरणा का प्रमुख स्रोत वाल्मिकी रामायण की परम्परा थी। हालांकि, विष्णुदास ने इसे काफी मुक्त भाव से लिया और इसे कई स्थानों पर परिवर्तित भी किया, विशेषकर, जहां मूल कथा में लम्बी पौराणिक कहानियां, जिनका मूल कथा से कोई सीधा संबंध भी नहीं है, भरी पड़ी हैं। कुछ प्रसंगों को विलोपित अथवा संकुचित कर और अन्य कुछ घटनाओं को विस्तार देकर अथवा उनकी व्याख्या कर कथा के पुनर्लेखन का यह वैशिष्ट्य इसके सबसे अनूठे वैशिष्ट्यों में से एक वैसा ही है जैसी स्वयं रामायण परम्परा शताब्दी दर शताब्दी, लेखक दर लेखक साक्षी है। यही वह शैली है जिसके कारण इसका अस्तित्व है, निरंतर कही जाएगी और इसकी पुनर्व्याख्या की जाएगी। विष्णुदास ने कथा का पुनर्लेखन करते समय, परम्परा से जाहिर तौर पर वो सब ग्रहण किया जो उनके विचार से उन्हें ध्यान देने लायक प्रतीत हुआ। हालांकि, जैसा स्टुअर्ट मैक्ग्रेगोर ठीक ही मानते हैं : 'यहां कोई संदेह नहीं है कि विष्णुदास का उद्देश्य वाल्मिकी रामायण की पुनर्व्याख्या के बजाय उसकी पुनर्रचना करना था।' और द्विवेदी के भाषांतर से यह प्रकट होता है कि विष्णुदास एक विशुद्ध कथावाचक थे, जो राम के नाम की प्रशंसा में उनके सत्कर्मों की कथा एक सादगीपूर्ण मनमोहक भाषा में अपने श्रोताओं को सुनाते थे। हालांकि, अन्य हिंदी लेखकों के बीच में उनके स्थान का आकलन करने का प्रयास करते समय किसी को भी स्टुअर्ट मैक्ग्रेगोर के शब्दों को दोहराना होगा कि 'ब्रजभाषा में उनकी अभिव्यक्ति की क्षमताओं का महत्व उनकी कृतियों की साहित्यिक योग्यताओं से परे था।'

लंबे समय से, विष्णुदास के काव्य की हिंदी साहित्य के इतिहास पर महत्वपूर्ण स्रोतों द्वारा लगभग पूरी तरह से उपेक्षा की जा रही है। संभवतः, काफी हद तक यह नागरी प्रचारिणी सभा के प्रतिवेदनों में भास वाल्मिकी रामायण अर्थात् 'हिंदी भाषा में वाल्मिकी रामायण' शीर्षक के द्वारा, जिसके अंतर्गत पद्य प्रकाशित हुआ था, प्रभावित हुआ था। इस प्रकार, शोधकर्ता इसे मूल कृति नहीं, सिर्फ एक अनुवाद मानते हैं, जो कि ध्यान देने लायक नहीं है। हालांकि, इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि यह कृति अध्येताओं के लिए कम से कम दो कारणों से ध्यान देने लायक तो है ही। पहला, चूंकि यह रामकथा हिंदी साहित्य में सबसे प्राचीन मौजूदा और व्यापक रामकथा है। दूसरा, इसके काव्यकार ने इसका इतनी सुरुचिपूर्ण और मनमोहक रीति में वर्णन किया है कि कुछ लोग इसे 'रामकाव्यमाला की पहली मणि' मानते हैं। इन सब तर्कों को ध्यान में रखते हुए, इसमें कोई संदेह नहीं कि विष्णुदास के मूल पाठ का एक सही आलोचनात्मक संपादन किया जाना अत्यंत वांछनीय है।

पूर्ववर्ती चर्चा से, यह तो स्पष्ट होना चाहिए कि हिंदी साहित्य में रामायण परम्परा की शुरुआत वाल्मिकी से गहरे रूप से संबद्ध है। वाल्मिकी का काव्य पूर्ववर्ती हिंदी लेखकों जिनकी रामकथा में रुचि थी और जिनके लिए वे 'मान्य मूल आदर्श' थे, के लिए प्रेरणा का मुख्य स्रोत था। संपूर्ण रामायण परम्परा में वाल्मिकी की भूमिका को देखते यह आश्चर्यजनक है भी नहीं। यह स्थिति थोड़े ही समय बाद तुलसीदास की रामचरितमानस में सन्निहित उत्कट रामभक्ति के आगमन के साथ ही बदल गई - जैसा कि फिलिप लुटजेनडॉर्फ बड़े ही समुचित रूप से देखते हैं और हिंदी भाषी लोगों के लिए एक आदर्श रामायण पाठ बन गई।■

"The Infinite Story : The Past and Present of the Ramayanas in Hindi (2009)" पुस्तक का अंश

ज़किया ज़ुबैरी

१ अप्रैल १९४२ को लखनऊ में जन्म। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से स्नातक। लंदन में एशियन कम्यूनिटी आर्ट्स की अध्यक्षा एवं कथा यू.के. एवं पुरवाई पत्रिका की संरक्षक। भारत में प्रवासी सम्मेलनों का आयोजन एवं भागीदारी। प्रकाशित कृतियां : कहानी संग्रह - *सांकल*, ग़ज़ल संकलन- *समुद्र पार हिन्दी ग़ज़ल*, ब्रिटेन के उर्दू कहानीकारों का हिन्दी अनूदित संकलन - *ब्रिटेन में उर्दू क़लम* प्रकाशित। शिवना साहित्य सम्मान, अभिव्यक्ति कहानी पुरस्कार, आज़मगढ़ नगर निगम द्वारा नागरिक अभिनंदन सम्मान से सम्मानित। सम्प्रति - लन्दन के बारनेट चुनाव क्षेत्र से लेबर पार्टी की निर्वाचित काउंसलर।

संपर्क : zakiiaz@gmail.com

कहानी

साँकल

क्या उसने अपने गिरने की कोई सीमा तय नहीं कर रखी?

सीमा के आँसुओं ने भी बहने की सीमा तोड़ दी है... इन्कार कर दिया रुकने से... आँसू बेतहाशा बहे जा रहे हैं।

वह चाह रही है कि समीर कमरे में आए और एक बार फिर अपने नन्हें मुन्ने हाथों से सूखा धनिया मुँह में रखने को कहे, ताकि उसके आँसू रुक सकें। बचपन में ऐसा ही हुआ करता था कि समीर माँ की आँखों से बहते हुए आँसू देखकर बेचैन हो उठता और लपक कर मसालों की अलमारी के पास पहुँच जाता, उचक उचक कर मसाले की बोतलें खींचने लगता; पंजों के बल खड़े-खड़े जब थक जाता तो कुर्सी खींच कर लाता और ऊपर चढ़ कर बोतल में से धनिये के बीज निकाल कर माँ के मुँह में डाल देता कि माँ की आँखों से प्याज़ काटने से जो आँसू बह रहे है वे धनिया मुँह में रखने से रुक जाएँगे।

सीमा मुस्करा देती समीर की मासूमियत भरी मुहब्बत पर। वो शरमा जाता। माँ की टाँगों से लिपटते हुए कहता मैंने सूज़ी आंटी को कहते हुए सुना था जब आपके साथ आपके बाल बनवाने गया था। माँ खो गई है वक़्त के उन सुहाने सपनों में जब समीर हर समय सीमा के साथ ही रहना चाहता था।

'माँ ! मैं डरता हूँ कहीं आपको कुछ हो ना जाए इसीलिए मैं आपके साथ साथ आता हूँ।' ये कहकर वो अपने प्यारे-प्यारे हाथों से सीमा के मुँह को पकड़कर अपनी तरफ मोड़ लेता।

आज उन्हीं हाथों ने उसके बदन... उसके दिलोदिमाग़ को चूर-चूर कर दिया है। नील के निशान ने उसकी तीस वर्षों की तपस्या को तार-तार कर दिया है। नील का निशान तो समय के साथ धुँधला होकर मिट जाएगा पर मन पर लगा ये झटका... ये ज़ख्म कैसे भरेगा। रिसता रहेगा। क्या यह मेरे दिये हुए संस्कार हैं? सीमा कुछ समझ नहीं पा रही - बिल्कुल ब्लैंक हो गई थी।

समीर घर में केवल अपने पिता से डरता था। बच्चों को डराना सीमा की प्रकृति में शामिल नहीं था। बस यही जी चाहता था कि हरदम दिल में समाय रक्खे अपने बच्चों को। ख़ासतौर से समीर को। एक ही तो बेटा था, वो भी बीच का, निग्लेक्टेड। सैंड्विच बना हुआ। बहनें तंग करतीं तो जवाब में उनसे बढ़-चढ़ कर वो परेशान करता। बड़ी वाली तो सह लेती पर छोटी इतना चिल्लाती के सम्भालना मुश्किल हो जाता और फिर समीर की धुनाई तो पक्की होती। वो भी, पक गया था मार खा खाकर। मार तो उसको पड़ती पर चोट हमेशा सीमा को लगती। धड़ाधड़ शीशे के बरतन जब बरसना शुरू होते तो, कभी हाथों और दुपट्टे के पल्लू से समीर का सिर छुपाती तो कभी कोहनियाँ ऊँची करके उनके पीछे अपना मुँह बचाती। समीर को अपनी छाँव में लेकर भागती तो पीछे से एक जूता उसकी कमर पर पड़ता। वह जूते की चोट को सह जाती। उसे संतोष इस बात का होता कि जूता उसके पुत्र के शरीर तक नहीं पहुँच पाया।

'माँ आप कॉन्फ़्रेंस में जाएँगी ना?'

'हाँ, सोच तो रही हूँ।'

'कब से शुरू है कॉन्फ़्रेंस?'

'२४ सितम्बर से।'

'आप कितने दिनों के लिए जाएँगी?'

'हमेशा के तरह तीन रातें चार दिन। मगर मैंने अभी फैसला नहीं किया है कि जाऊँगी या नहीं।' सीमा ने जवाब दिया।

'माँ आपको अवश्य जाना चाहिए अगर एक बार सिलसिला टूट गया तो फिर आप आइन्दा भी नहीं जाना चाहेंगी।' समीर ने इतने अपनेपन से कहा कि सीमा ने उसी समय फ़ैसला कर लिया कि समीर ठीक ही तो कह रहा है। उम्र के इस पड़ाव पर पहुँचकर बहुत से काम समय से पहले ही छोड़ दिए जाते हैं। सीमा वक़्त से पहले बूढ़ी नहीं होगी। वो हमेशा कहती थी कि उम्र को रोकना और आगे बढ़ाना बहुत कुछ अपने ही हाथ में होता है। उसने फैसला कर लिया कि वह कॉन्फ़्रेंस में अवश्य भाग लेगी।

सीमा की समझ में नहीं आ रहा था कि वह लेबर पार्टी की कॉन्फ़्रेंस में आई थी या अमीरों की पार्टी में। हर पॉलिसी ओल्ड लेबर से हटकर न्यू लेबर को छूती हुई टोरी पार्टी की गोद में जा बैठी थी। सीमा उकताने लगी थी। आख़िर क्यों आ गई? क्या सब कुछ बदल जाएगा। क्या हर अच्छी चीज़ इसीलिये बदल जाएगी क्योंकि बदलाव जीवन की सच्चाई है?

'अरे माँ आप वापिस भी आ गईं? अभी तो कॉन्फ़्रेंस चल रही है। सुबह टीवी पर दिखा भी रहे थे।' समीर उस दिन काम से आया तो माँ घर में मौजूद थी। माँ ने देखा। पुत्र के साथ एक युवती भी थी। ज़ाहिर है उसकी आँखों में एक सवाल उभरा जो ज़बान तक नहीं आया। मगर पुत्र को सवाल समझ में आ गया।

'माँ इससे मिलो ये नीरा हैं।'

'हेलो नीरा!' माँ ने पूछा, 'कुछ खाओ पियोगे तुम लोग, या फिर बाहर से खा कर आ गए हो?' सीमा को बाहर खाना बिलकुल पसंद नहीं था। वह स्वास्थ्य की ख़राबी के लिए हमेशा बाहर के खाने को ही दोष देती थी। खाना घर का और ताज़ा पका होना ज़रूरी है। वह स्वयं तो शाकाहारी थी, पर दूसरों को केवल रेड मीट खाने से रोकती थी। मगर उसकी सुनता कौन था? पतिदेव तो दोनों समय रेड मीट ही खाते थे। बीफ़ के बहाने अपनी अम्मा को भी याद किया करते थे कि क्या कबाब बनाती थीं बस मज़ा आ जाता था। उफ़, बीफ़! सीमा अपने होठों को भींच लेती। साँस रोक लेती कि कहीं उसको बीफ़ की महक ना आ जाये?

'येस मामा डार्लिंग हम खाकर ही आए हैं क्योंकि आप तो थीं नहीं इसी लिए बाहर ही खा लिया था।'

सीमा आज की पीढ़ी के मिज़ाज को समझती थी इसीलिए प्रश्न हमेशा सोच समझ कर पूछा करती थी। अब तो ज़माना ही बदल गया था। पहले बच्चे अपने माँ-बाप से प्रश्न पूछते डरते थे। आजकल माँ-बाप एहतियात बरतते हैं।

> **वह स्वयं तो शाकाहारी थी, पर दूसरों को केवल रेड मीट खाने से रोकती थी। मगर उसकी सुनता कौन था? पतिदेव तो दोनों समय रेड मीट ही खाते थे। बीफ़ के बहाने अपनी अम्मा को भी याद किया करते थे कि क्या कबाब बनाती थीं बस मज़ा आ जाता था। उफ़, बीफ़! सीमा अपने होठों को भींच लेती।**

फिर भी सीमा ने समीर को करीब बुलाकर मालूम करना चाहा ये नीरा कौन है और रात को घर में क्यों लाया है। क्या उसे अभी वापिस भी ले जाना है?

'माँ रात को यहीं सो जाएगी।' समीर ने थोड़ा झिझकते और आवाज़ को काफ़ी गंभीर बनाते हुए उत्तर दिया।

सीमा उसके और करीब आ गई और तकरीबन सरगोशी करते हुए बोली, 'मुझे ये पसंद नहीं है और अगर वापस आकर तुम्हारे पिता सुनेंगे तो मुझ पर बहुत नाराज़ होंगे।'

'वो आएँगे तो ये चली जाएगी।'

'नहीं बेटे हमारा यह कल्चर नहीं है। यहाँ तुम्हारी बहन के सात आठ वर्ष के बच्चे आते हैं वो क्या समझ पाएँगे इस रिश्ते को उनको क्या बताया जाएगा।'

'माँ दिस इज़ नॉट माई प्रॉब्लम।'

सीमा ने उसी समय समीर की आवाज़ और चेहरे के भाव पढ़ लिए थे। सैंतीस वर्ष से झेल रही थी समीर के दोहरे उसूलों को।

जहाँ माँ और बहनों का मामला होता फ़ौरन देसी बन जाता और अपने मामले में पश्चिमी मूल्य रखता।

सीमा सब सह लेती। उसके दिमाग़ में समीर के बचपन की पिटाई की यादें छपी हुई हैं। उसको दया आ जाती और वो चुप हो जाती पर उसने कभी ये नहीं सोचा था कि उसके ये फ़ैसले समीर के लिए कितने हानिकारक हो सकते हैं वो तो माँ के स्नेह से लबालब थी। पुत्र की कमज़ोरियाँ भी स्नेह के आगे दब जातीं।

सीमा ऊपर पहुँची तो मालूम हुआ के उसके कम्पयूटर पर तो नीरा का राज है। इसका मतलब हुआ कि जिस दिन वो गई उसी दिन नीरा आ गई होगी। तो फिर क्या... नहीं नहीं समीर ऐसा नहीं है। उसने नीरा को दूसरे कमरे में शिफ़्ट करना चाहा तो समीर आ पहुँचा।

> सीमा को कितना गर्व होता अपने सुंदर बेटे पर कि वो केवल सुंदर ही नहीं है समझदार भी है। कैसे पिटा करता था बेचारा! एकदम से सीमा उदास हो जाया करती और दुआ करती कि हे भगवान अब मेरे बच्चे को कभी भी ऐसे दुःख ना देखने पड़ें, जो झेलना था उसने बचपन में झेल लिया है।

'माँ इसे रात को नींद नहीं आती तो आपका कंप्यूटर यूज़ करती है।'

'बेटे मेरा कंपनी का कंप्यूटर है। मैं नहीं चाहती इसको कोई और भी हाथ लगाए।'

'कम ऑन माँ।'

सीमा ने कहा, 'अच्छा आज रहने दो मैं भी थकी हुई हूँ और कल तो यह चली ही जाएगी।'

'नहीं माँ इसका रहने का कोई बंदोबस्त नहीं है।'

'अरे तो फिर कहाँ से उठा लाए हो?' सीमा ने नाराज़ होते हुए पर आवाज़ को बिना ऊँचा किये पूछा। सीमा को हमेशा से नफ़रत थी ऊँची आवाज़ में गुस्सा करने से। उसका ख़्याल है जब कोई ग़लत बात को सही बात साबित करना चाहता है तभी ज़ोर ज़ोर से बोलने लगता है। और फिर आगे वाले की भी तो कोई इज्ज़त होती है चाहे बड़ा हो या छोटा! अक्सर उसका पति सोचता कि सीमा चिल्लाकर एक्सप्लेन नहीं कर रही तो इसके मतलब है झूठ बोल रही है। सीमा सोचती इस बात में अवश्य परवरिश का हाथ होता है। कैसे माहौल में कौन पला है ऐसे ही क्षणों में असलियत मालूम हो पाती है।

वो अपने कमरे में सोने चली गई।

तीन दिन की कॉन्फ्रेंस ने थका दिया था। कुछ तो दुखी कर देने वाली नई राजनीति थी, बिलकुल दक्षिण पंथी दल होने का अनुभव होने लगता है। मैंने इस लिए तो नहीं इस पार्टी की मेम्बरशिप ली थी!

वह बोर होकर पहले ही चली आई थी और यहाँ आकर भी उसे दुःख ही हुआ था। औरत जिधर जाती है उधर दुःख ही झेलने पड़ते हैं। समीर के बारे में सोचने लगी। कहता है कि जब बाप आएगा तो नीरा यहाँ से चली जाएगी। तो क्या वो ये सोच रहा है कि उसकी माँ को ये तौर तरीके पसंद हैं। वो फिर घबराने लगी कि कल वीकेंड है। बिटिया और दोनों बच्चे आएँगे, दामादजी तो छुट्टी वाले दिन भी काम करते हैं। ससुर के ऊपर तो वो पड़ गए हैं। सीमा ने भी छुट्टी का दिन पति के साथ कभी नहीं बिताया था। वो वीकेंड घर में रुक जाते थे तो ऐसा लगता जैसे बहुत बड़ा एहसान कर रहे हैं। पूरे दिन टीवी के सामने आराम कुर्सी पर लेटे नख़रे दिखाते रहते और सीमा नख़रे उठाने की तो मशीन बन चुकी थी।

नख़रे तो सभी उठवाते थे क्योंकि उसका कुसूर था पति का कहना मानना और हर तेरहवें महीने एक नया सा प्यारा सा मॉडल पैदा कर देना। बेटे की बारी में भी सीमा को मैनेजर के साथ ही भेजा था, पहले चैक-अप के लिए। उसको कितनी शर्म आ रही थी कि डॉक्टर समझेगी की मैनेजर ही आने वाले बच्चे का बाप है। हुआ वही जिसका डर था। अपने पति को भी अन्दर बुला लो। डॉक्टर ने कहा था। हालाँकि मैनेजर उसके पति से अधिक जवान और ख़ुशमिजाज़ था पर सीमा को ये रिमार्क अच्छा नहीं लगा। वो उसी समय बहुत कुछ सोचने पर मजबूर सी हो गई। शर्मिंदा तो मैनेजर भी था। वो कब चाहता था कि उससे बड़ी उम्र की महिला को उसकी पत्नी समझा जाये।

मैनेजर ने सीमा से पहले ही साहब को जाकर ख़ुशख़बरी दे दी थी कि बेटा है तो सुना कि वो खुश हुए थे। उतने ही ख़ुश वो आज भी थे बेटे से!

बच्चा पैदा करने सीमा बड़ी बहन के पास भेज दी गई थी।

वहाँ भी घर में अकेले ही समय काटना होता क्योंकि बहन डॉक्टर थीं। फिर भी वो खुश थी कि जब बेटा लेकर जाएगी तो सब कितने खुश होंगे और शायद बेटे से खेलने के लिए पति भी जल्दी घर आ जाया करेंगे।

बेटा हुआ तो सीमा की टेल-बोन उखाड़कर आया। छह महीने तो बिस्तर ही में पड़े पड़े बेटे की देखभाल की। सारी रात रोता था। सीमा अकेले जाग जागकर साथ-साथ आप भी रोने लगती थी। कितना अच्छा होता था पुराने ज़माने में कि परिवार का हर बच्चा सबका बच्चा समझा जाता था। सभी मिल जुलकर पाल लिया करते थे। अब तो सभी कुछ बिखर गया था।

आज उस नील की जलन उस हड्डी के दर्द से कहीं अधिक महसूस हो रही है जो समीर के पैदा होने पर उखड़ी थी। दूसरे कमरे में खटपट की आवाज़ होती तो सीमा को आशा बँधती कि शायद अब बस समीर आकर अपनी मज़बूत वार्ज़िशी बाँहों में माँ को सँभालेगा और शर्मिन्दगी के आँसू बहायेगा। माँ के आँसुओं के साथ। और उसका दर्द उसकी जलन सब ठीक हो जायेगा।

मगर वो तो बैठा उस जवान लडकी की दिलजोई कर रहा था और एक्सप्लेन कर रहा था कि आज जो कुछ भी

हुआ वो माँ की उम्र ज़यादा हो जाने और काम बढ़ जाने के साथ ही अधिकतर अनुचित व्यवहार की आदत पड़ जाने के कारण हुआ है। वो आइन्दा ख्याल रखेगा कि घर का माहौल ठीक रहे। नीरा धीरे-धीरे मद्धम सुरों में उसके कान में रस घोलती जाती और वो और अधिक माँ के जहालत भरे व्यवहार से शर्मिंदा होता जाता।

आज सीमा को जिल की बहुत याद आई। कितनी सुशील और कितनी घरेलू नीली आँखों वाली अंग्रेज़ लड़की थी वो। लगता ही नहीं था कि इस देश की पैदाइश हो। समीर से कितना प्यार करती और सीमा से अक्सर कहती- 'सीमा, युअर सन इज़ सो हैण्डसम। इट वाज़ लव ऐट फ़र्स्ट साइट।' सीमा उसकी चुटकी लेने को कहती 'ऐसा तो कोई हैण्डसम नहीं, तुम्हारी नज़र ही कमज़ोर होगी!' वो सीमा से लिपट जाती, 'आप कितनी शैतान हैं!' सास बहू के ये मज़ाक चलते रहते। सीमा ख़ूब जी भरकर प्यार से अपने बेटे को देखा करती कि सच ही तो कहती है जिल, है तो सुन्दर मेरा बेटा। जिल को समीर की गहरी आवाज़ और सही अंग्रेज़ी बोलने का अन्दाज़ भी बहुत अच्छे लगते। वो इस बारे में भी सीमा से बेधड़क बात करती।

सीमा सोचती मैंने कितना अच्छा किया जो पति के विरोध के बावजूद भी शादी होने दी इन दोनों बच्चों की। उसने पति के सामने पहली बार जीवन में मुँह खोला था कि समीर को वही करने दिया जाए जो वह चाहता है क्योंकि अब तो वो नौकरी कर रहा था। एक फ़्लैट भी ख़रीद लिया था शहर के बीचों-बीच, टेम्स के किनारे। किराए पर दे रखा था। सीमा को कितना गर्व होता अपने सुंदर बेटे पर कि वो केवल सुंदर ही नहीं है समझदार भी है। कैसे पिटा करता था बेचारा! एकदम से सीमा उदास हो जाया करती और दुआ करती कि हे भगवान अब मेरे बच्चे को कभी भी ऐसे दुःख ना देखने पड़ें, जो झेलना था उसने बचपन में झेल लिया है।

कभी-कभी तो वो भगवान को चुनौती भी देने लगती कि ख़बरदार! अब मेरे प्यारे बेटे को अपनी शरण में ही रखना वरना! आप ही मुस्कुरा देती। हे! प्रभू यह औलाद भी क्या बला होती है।? क्यों इतना प्रेम होता है इनसे! ये जवाब में तो कुछ भी नहीं देते फिर भी बुरा नहीं लगता। इनके दुर्व्यवहार भी भुला दिए जाते हैं।

पर पति की चोट तो हमेशा ज़िन्दा रहती है। मैं क्यों ना याद रखूँ मेरी औलाद थोड़ी है मेरा पति। उनकी माँ तो सब भुला देती थीं। उसके यहाँ तो पूरा परिवार साथ ही रहता था। कैसे-कैसे चिल्लाते थे उसके पति अपनी माँ पर। वह भी खूब चिल्लाती थीं। ऐसा लगता था जैसे पक्के गाने का अभ्यास हो रहा हो। दोनों में से पहले जो तीव्र 'ध' और तीव्र 'नी' वाले अन्तरे में जाता वही अपनी जीत समझ लेता और सामने वाले को सर पकड़कर बैठ जाना होता। जैसे घोर बरसात के बाद परनाला मद्धम सुरों में बह रहा हो। अम्मा की आँखों से ऐसे ही आँसू बह रहे होते। सीमा उनके पास जाकर बैठ जाती और आहिस्ता से पति की ओर से माफ़ी माँगने लगती। पति ने तो कभी भी माँ से माफ़ी नहीं माँगी थी। वो तो पैसे वाले बेटे थे। माँ ने तो उनको केवल जन्म दिया था। मेहनत तो उन्होंने आप ही की थी बड़ा आदमी बनने के लिए।

बन तो गए थे बड़े आदमी पर संस्कारों का ज़िक्र तो उनके शब्दकोश में था ही नहीं। मामूली बात थोड़ी थी कि माँ को महीने के पैसे देते थे, तो क्या हिसाब माँगना उनका हक़ नहीं बनता था! बेचारी अम्मां! पढ़ी लिखी तो थीं नहीं। हिसाब याद कैसे रख पातीं?

सीमा ने कभी सोचा भी नहीं था कि कभी उसका बेटा बाप के पदचिह्नों पर चलेगा। उन्हीं को ठीक और सही ठहराएगा। जिल ये भी तो बड़े गर्व से कहा करती थी, 'सीमा मैं कितनी लकी हूँ कि मेरा समीर अपने बाप से बिलकुल अलग है। हर तरह से, सुंदर तो है ही पर खुले विचारों का भी है। उज्जवल है अपने विचारों में। साफ़ सुथरा।'

आज सीमा का जी अपने से अधिक जिल को याद कर करके रो रहा था। समीर का अस्थिर मन ना जाने क्या-क्या सोचा करता। कानों में शूं शूं कि ध्वनि गूंजने लगी। डॉक्टरों ने टिनिटस बता दिया। 'ये बीमारी तो अक्सर लोगों को हो जाती है। बहुत आम है आजकल। अक्सर परेशानियों से होती है।' जिल ने समीर को तसल्ली देने के लिए कहा और सबेरे जल्दी उठने के ख़्याल से जल्दी ही सो गई। वो भी अपनी कंपनी में ऊँचे पद पर काम करती थी और सबेरे उठ कर समीर का नाश्ता भी बनाती, घर को साफ़ सुथरा करने के बाद ही घर से निकलती। सीमा को जिल की सारी आदतें बेहद पसंद थीं। इसी लिए सास बहू में गाढ़ी छनती थी। दोनों जैसे सहेलियाँ बन गई थीं। अँगरेज़ तो वैसे भी कभी एक-दूसरे से उम्र नहीं पूछते और ना ही उनका पता, उनका पेशा या कौन-कौन सी कार चलाता है या कैसे आता-जाता है। किसी को किसी की कोई खोज नहीं रहती आपस में। केवल दोस्ती का रिश्ता होता है या नहीं भी होता, तो भी दुश्मनी नहीं होती।

समीर जिल से नाराज़ रहने लगा था। वो सीमा से कहती ना जाने समीर को क्या हो गया है, देर में घर आता है। पूछने पर कुछ भी नहीं बताता। कभी कभी खाना भी नहीं खाता। मैं ऑफिस से आकर पका कर रखती हूँ। सीमा मैं भी तुम्हारी तरह ही ताज़ा खाना खिलाती हूँ समीर को। फ्रिज में रखे खाने में तो सारे तत्त्व मर जाते हैं। पर समीर गरम गरम खाना देखकर भी नहीं खाता। 'एक दिन मुझे अपने घर इन्वाइट करो समीर के सामने ही, मैं आ जाऊँगी और सब कुछ आप ही देखकर फिर समीर से बात करूंगी।' परेशान सीमा ने अपनी गंभीर आवाज़ में कहा।

'अम्मा, उसको मेरा कोई ख़्याल नहीं। टिनिटस हो गया है। रातों को नींद नहीं आती। सारी रात पंखा चला कर सोता हूँ। तब कहीं जाकर चैन मिलता है, जब पंखे की आवाज़ कान की शूं शूं की आवाज़ से ताल मिला लेती है।'

'तो इसमें जिल का क्या कुसूर?' सीमा ने समीर से हैरान होते हुए पूछा।

'पत्नी है मेरी, मेरा ख्याल रखना उसका फ़र्ज़ है।'

'क्या खाना नहीं बनाती या घर गन्दा रखती है या बराबर से कमाकर नहीं लाती?' एक ही साँस में सीमा ने प्रश्नों की बौछार कर दी। वो इस समय एक औरत बनकर दूसरी औरत की ओर से एक मर्द से सवाल कर रही थी। अपने बेटे से नहीं।

'फिर भी, जब मैं रातों को जगता हूँ तो इसको भी जागना चाहिए। ये तो कानों में म्यूजिक सुनने का प्लग लगाकर सो जाती है, गाने सुनते सुनते।' समीर ने अपनी कड़वाहट एक ही साँस में उगल दी। सीमा सन्नाटे में रह गई। हे राम! बिलकुल बाप, पूरा बाप! ये क्या हो गया, कब हो गया, क्यों हो गया! मैं तो खुश थी की अच्छी संस्कारी लड़की से शादी करेगा तो इंसान बना रहेगा। ये तो जानवर का जानवर ही रह गया। बिलकुल ख़ामोश हो गई सीमा।

डॉक्लैण्ड के अपार्ट्मेंण्ट के साथ ही टेम्स नदी में खड़ी तमाम किश्तियाँ जैसे डूबने लगी हों। उन किश्तियों में रहने वाले जैसे मदद को चिल्ला रहे हों। उसको जिल की आवाज़ भी कहीं दूर से सुनाई दे रही थी। सहायता के लिए चिल्लाते हुए। अपने पति की मोहिनी सूरत को आँखें फाड़ फाड़कर एकटक देखते हुए। जैसे आज वो उसके चेहरे के आकार को अपने मन में बैठा लेना चाहती हो। हमेशा के लिए...

'माँ, मैं उसको दो फ़्लैट्स, आपके दिए तमाम जेवर और पाँच हज़ार पाउण्ड कैश भी दे रहा हूँ। ज़ेवर देने में आपको समस्या तो नहीं होगी क्योंकि आप औरतों को जेवर से बहुत प्यार होता है?'

कितना कड़वा बोलता है, ये मेरा बेटा तो लगता ही नहीं, जैसे बाप कहीं और से ले आया हो! 'मेरा तो जी चाह रहा है मैं उसको अपने ज़ेवर ही नहीं बल्कि अपने हिस्से की जो कुछ भी खुशियाँ रह गयी हैं वो भी दे दूँ।'

'क्यों ऐसा जी क्यों चाह रहा है। मुझ से रक्तसंबंध है या उससे?'

खून का रिश्ता क्या होता है। उसका क्या महत्व होता है, उसकी क्या अहमियत होती है और दिलों के रिश्ते की क्या, ये बातें तुम नहीं समझोगे।

समीर दफ्तर ही में था तो जिल सीमा के पास आ गई। सीमा से उसके कंधे पर सर रखकर रोने की बाक़ायदा इजाज़त माँगी और सीमा के आँख उठाकर देखने से पहले ही उससे लिपट कर उसके कंधे भीगा दिए। अपने दुःख जैसे उसके कन्धों पर डाल दिए हों। ख़ामोश बैग उठाया और जाने लगी तो सीमा ने कुछ कहना चाहा, पर वो चली गई।

आज ना जाने उसको जिल क्यों इतनी याद आ रही है? शायद वो होती तो समीर को समझा लेती पर ये नीरा ना जाने कहाँ से उठा लाया है। मैं इस तरह इसको अपने घर में नहीं रहने दूंगी।

'अगर आप ये समझ रही हैं कि मैं इसके साथ कोई ग़लत रिश्ता रखता हूँ तो माँ ये बीमार मानसिकता की पहचान है। ये केवल एक दोस्त है। जैसे एक लड़का दोस्त हो। ये परेशान है इसलिए कुछ दिनों के लिए यहाँ ले आया हूं।'

'तो आजकल बेला कहाँ गयी?'

'वो फ्रांस गई हुई है अपने घर वालों के पास।'

'कब तक आएगी?'

'मुझे नहीं मालूम। वहीं बैठकर अपनी थीसिस भी लिखेगी।'

'क्या अब आएगी ही नहीं। सीमा ने डरते डरते पूछा।'

सीमा को ऐसे तो पसंद वो भी नहीं थी। पर कम बुरी थी। जिल उसको बहुत याद आती थी पर कभी भी उसका ज़िक्र नहीं करती। सोचती समीर को दुःख होगा कि माँ मेरी मदद नहीं करना चाहती। मेरे लिए दूसरी पत्नी की तलाश में।

समीर अगर परिपक्व दिमाग़ का होता तो सीमा विवाह के लिये लड़कियों की लाइन लगा दे। पर उसको बेटे पर भरोसा ही नहीं था। कहीं सीमा की पसंद की लड़की आ गई तो समीर उसके साथ ना जाने क्या व्यवहार करेगा। लव मैरिज का जनाज़ा तो उठ चुका था।

'माँ आपसे कितनी बार बताया है की बेला ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से पीएचडी कर रही है आप बार-बार ग़लत सवाल क्यों पूछती हैं। वो अपने माँ-बाप के पास गई है। अब ख़ाली थोड़ी बैठेगी, जब तक वहाँ है थीसिस लिखती रहेगी।' अच्छी भली डांट पड़ गई थी सीमा को। हर समय इतनी पढ़ी-लिखी और एक्ज़ेक्यूटिव पोज़ीशन की माँ को कैसा उल्लू समझा करता था।

सिर्फ़ उल्लू समझता तो भी शायद इतना बुरा ना लगता क्योंकि उल्लू कि फ़ोटो तो निशानी होती है अकल्मंदी की। गधा भी समझे तो भी सीमा बुरा नहीं मानेगी क्योंकि वो भी एक मेहनती जानवर होता है और अपनी ताक़त से बढ़ कर काम करता है। समीर उसको एक जड़ मूढ़ नकारा औरत समझता है। जब बचपन में पिटा करता था तो गोदी में घुस घुसकर कहता था अगर आप ना होतीं तो ये पिताजी तो मुझे मार ही डालते। माँ आप भी तो बड़ी पोज़ीशन पर हैं फिर आप क्यों नहीं थकतीं? आज उसे अपनी माँ में कोई अच्छे गुण दिखाई ही नहीं देते। कैसे सब कुछ बदल जाता है। मेरे अपने ही बेटे में अपने ननिहाल का एक भी गुण नहीं

आया, पूरा असर अपने पिता के ख़ून का दिखाई देता है।

सीमा ने सोचा अब स्वयं ही जाकर बरफ़ निकाले और सेंक करे। शायद कुछ आराम आ जाए। कैंसर के बाद से बाईं ब्रेस्ट के पास का हिस्सा कुछ ज़यादा ही सेंसिटिव हो गया है। बग़ल से सात लिंफ़-नोड्स निकाल दिये गये थे। इसलिए उधर के हिस्से में चोट का असर दुगना होता था। आज तो चोट उधर ही लगी थी केवल जिस्म पर ही नहीं उसके अहम् को कितनी बड़ी ठेस लगी थी ये केवल वही जानती थी।

सोचा पहले जाकर कपड़े बदल ले। अब तक तो सब सो गए होंगे। उसको मनाने कोई नहीं आएगा। कपड़े बदलने गई तो बाज़ुओं को देख कर आँखें मूँद लीं। दोनों बाज़ुओं पर जैसे काले रंग के बाज़ूबंद बाँध दिए गए हों। कैंसर वाली तरफ़ का नील लगभग काला हो चला था। वहीं तो जलन हुए जा रही थी।

वह शर्म से गड़ी जा रही थी कि आज यह नौबत आ गई है कि समीर उस नीरा के कारण उस पर हाथ उठा दे। अपनी पूरी ताक़त उस पर निकाल दी। कैसे दरवाज़े के ऊपर रखकर दोनों बाज़ू भींच दिए थे कि अब रहिये यहीं। बाहर ना निकलिएगा। अगर आपने नीरा की बेईज़्ज़ती की तो मुझसे बुरा कोई ना होगा।

सीमा अपने को छुड़वाने के लिये दुहाई देती रही पर ऐसा लगता था जैसे समीर बाप का बदला उससे ले रहा हो। बाप ही की तरह वहशी बन गया था, चेहरा वैसा ही भयानक हो गया था। हाँ वही चेहरा जिसे वह सुन्दर कहती रही है। साँस रोके गुर्रा रहा था माँ पर कि आपने नीरा को घर से जाने को कहकर उसकी बेज़्ज़ती की है। उसके बदले में वो माँ की इज़्ज़त का जनाज़ा निकाल रहा था।

बेटी को जब मालूम हुआ कि माँ कॉन्फ्रेंस से जल्दी आ गई है तो वो भी मिलने चली आई और नीचे किचन में बच्चों को खिलाने पिलाने में व्यस्त हो गई। अगर वह इस समय ऊपर होती तो सीमा तो शर्म से गड़ ही जाती।

वह अभी अपने दुःख को ठीक से महसूस भी नहीं कर पाई थी कि दरवाज़े पर घण्टी बजी। दरवाज़ा सीमा की बेटी ने ही खोला। सीमा भूल ही गई थी कि बेटी और नाती अभी घर में ही हैं। बाहर पुलिस खड़ी थी। बेटी ने पुलिस को फ़ोन करके बुलवा लिया था। यानि वह सब सुन रही थी। वह यहीं की पली-बढ़ी है। इस देश के हक़ और कानून से पूरी तरह वाक़िफ़ है। मगर उनके ख़ानदान में पहली बार पुलिस घर में आई थी। सीमा को समझ ही नहीं आ रहा था कि वह पुलिस को क्या कहे। बेटी ने आगे बढ़ कर सारी बात पुलिस को समझा दी।

पुलिस की आवाज़ सुन कर समीर और नीरा भी नीचे आ गए। समीर घबरा गया। नीरा के जैसे होश ही उड़ गये थे। पुलिस ने सीमा से सीधे एक ही सवाल किया था, 'क्या आप अपने बेटे को अभी घर से निकालना चाहती हैं?'

समीर के चेहरे पर बदहवासी देख कर सीमा को ठीक वही महसूस हुआ जैसे वह बचपन में अपने पिता के हाथों पिट रहा हो। उसके भीतर की माँ जैसे टूट रही थी। पुलिस देख कर शायद वह भी बुरी तरह से घबरा गई थी।

उस घबराहट में भी सीमा ने पुत्र को अकेला नहीं छोड़ा, 'नहीं ऑफ़ीसर, मेरे बेटे का इस घर पर पूरा हक़ है। मगर मैं इस आवारा लड़की को इस घर में नहीं रहने दूंगी।'

पुलिस ने समीर को आदेश दिया कि लड़की को उसी वक़्त घर से बाहर करे। नीरा के साथ ही शायद पुत्र और माँ का रिश्ता भी घर से बाहर चला गया था। माँ वही थी, वहीं खड़ी थी।

नीरा को कहीं छोड़ कर समीर घर वापिस आ गया है। घर के ऐशो आराम से दूर रह पाना शायद उसके लिये संभव भी नहीं था। उसकी नज़रों में माँ के प्रति बस एक ही भाव था। सीमा तय नहीं कर पा रही कि वो भाव क्या है। शत्रुता, नफ़रत या फिर...!

कभी कहता है आप कॉन्फ्रेंस में ज़रूर जाएँ और कभी दोस्तों के साथ बाहर खाना खाने की सलाह देता है। 'माँ जब पापा आपको नहीं ले जाते तो आप ख़ुद जाना शुरू कीजिये।' और आज जब माँ ने उसके नीरा के साथ कमरे में अँधेरे में बंद देखकर समझाना चाहा तो जो मुँह में आया बकता चला गया। बाज़ारू ज़बान, बिल्कुल बाज़ारू।

भला कौन अपनी माँ को छिनाल कह सकता है। अपने यारों के साथ घूमती हैं। क्या फ़र्क रह गया पति और बेटे में। वो भी तो अपनी कमज़ोरियाँ छुपाने के लिए यही इल्ज़ाम लगाता रहा है।

समीर की ज़बान की कटुता की चोट जितनी गहरी लगी थी उतना तो बाज़ुओं पर पड़े नील के निशान का दर्द भी नहीं चुभ रहा था। अपनी जवानी का एक एक क्षण, एक एक क़तरा, इकलौते बेटे के नाम लिख दिया था। सोचती थी कि बाप के वक़्त की भरपाई भी वह ही करेगी। आज इस उम्र में, माँ पर इतना बड़ा आरोप।

बेटी रात को घर में ही रह गई है। वह और उसका पति अपने पिता के कमरे में आराम से सो रहे हैं। सीमा शरीर के दर्द से लड़ रही है। आत्मा के घाव सहला रही है। मुँह में धनिये के बीजों का स्वाद है मगर दिल में एक डर भी है। कहीं अपने गुस्से में समीर उसकी हत्या तो नहीं कर देगा? नहीं, नहीं... यह नहीं हो सकता, आख़िर पुत्र है। भला ऐसा कैसे कर सकता है। मगर दिल का डर उसे सोने नहीं दे रहा। बिस्तर पर करवटें बदल रही है।

एकाएक बिस्तर से उठती है सीमा और भीतर से कमरे की सांकल चढ़ा देती है।■

डॉ. योगिता मोदी

फरवरी, १९६९ में ग्वालियर में जन्म। वाणिज्य में एम.फिल, पीएचडी। ग्वालियर में अध्ययन-अध्यापन तथा ग़ाज़ियाबाद स्थित वीएमएलजी महाविद्यालय में विभागाध्यक्ष रहीं। अमेरिका की प्रतिष्ठित हिंदी एवं भारतीय संस्कृति की संरक्षण संस्थाओं से संलग्न। हिंदी-यूएसए से सम्बद्ध तथा हिंदी पाठशाला की स्वयंसेवी संयोजिका। हिंदी साहित्य एवं लेखन में गहरी रुचि। सम्प्रति - आईटी क्षेत्र में कार्यरत तथा न्यूजर्सी में निवास।

सम्पर्क : modi_yogita@yahoo.com

कविता

कहीं देर न हो जाये

बहुत कह चुके बहुत सुन चुके बस
अब कहीं देर न हो जाये
चलो मिलकर करें शंखनाद सभी
एक आशावादी शुरुआत के साथ
अपनों को अपनों से मिलाएं

भौतिकतावादी चमक-दमक
निगलती जा रही हमारी सभ्यता-संस्कृति को
साक्षी मान पर इस ही को करते हैं प्रतिज्ञा
नहीं मिटने देंगे इसकी अस्मिता को

दोष नहीं है हमारी नन्हीं और युवा पीढ़ी का
ये जिम्मेदारी हमारी है, हम ही इसे निभाएंगे
कच्ची मिट्टी को जिस रूप, आकर में ढालेंगे
वो सरलता से वैसे ही ढल जायेंगे

वैभवशाली इतिहास की धरोहर
समृद्ध परंपरा की अमूल्य थाती
कौन सम्हालेगा इसको कल को
यही बात समझ नहीं आती

भारत पार बसने वाले मेरे देशवासियों
अब तो जागो अब तो सम्हलो
ये तुम्हारी है जवाबदारी
जो तुमने इस देश से पाया और सीखा
उसके संवरण-संरक्षण की कर लो तैयारी

जीवन है नाम कुछ खोकर कुछ पाने का
पर इस कुछ पाने के लिए हम क्या गँवा रहे हैं
अनेकों बनावटी आवरण ओढ़े हम बस
अपनी मूलभूत पहचान ही खोते जा रहे हैं

फोटो साभार : मणि मोहन मेहता

अपना देश, संस्कृति और निज भाषा
मात्र यही मूलमंत्र है, हमारे चिरकालिक गौरव का
जैसा देश वैसा भेष ये बस क्षणिक बात है
अपनी जड़ से विलग हो कोई अस्तित्व नहीं है पौधे का

निज तरक्की की सीढ़ी चढ़ना
केवल नाम नहीं उन्नति का
परिवार, परंपरा और देश को जो आगे बढ़ाये
सार्थक उन्नति उसी की है
जो इस लक्ष्य को साधे
और जीवन को धन्य बनाये

चूक गए अगर हम अभी अपने उद्देश्य से
आने वाली पीढ़ियां हमें क्षमा न कर पाएंगी
जब तक हमें और उन्हें होगा चेतना-बोध
कुछ न रहेगा बस में फिर देर बहुत हो जाएगी।

■

अनूप भार्गव

राजस्थान में जन्म। बिरला तकनीकी और विज्ञान संस्थान (B.I.T.S.) पिलानी से स्नातक तथा भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान (I.I.T.) दिल्ली से स्नातकोत्तर। १९८३ में अमेरिका पहुँचे। हिन्दी प्रचार-प्रसार और शिक्षण की अनेक संस्थाओं से जुड़े रहे। आठवें विश्व हिन्दी सम्मेलन, न्यूयॉर्क में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 'ई-कविता' व 'ई-चिन्तन' समूहों का सफल संचालन। कुछ समय 'कविता कोश' से भी जुड़े रहे। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान का 'विदेश प्रसार सम्मान' तथा दसवें विश्व हिन्दी सम्मेलन, भोपाल में 'विश्व हिन्दी सम्मान' से पुरस्कृत। ब्लॉग www.anoopbhargava.blogspot.com पर रचनाएँ संकलित। सम्प्रति - कंप्यूटर सलाहकार तथा न्यूजर्सी में निवास।

संपर्क : anoop_bhargava@yahoo.com

अगले खम्भे तक का सफ़र

याद है
तुम और मैं
पहाड़ी वाले शहर की
लम्बी, घुमावदार सड़क पर
बिना कुछ बोले
हाथ में हाथ डाले
बेमतलब, बेपरवाह
मीलों चला करते थे
खम्भों को गिना करते थे
और मैं जब चलते चलते
थक जाता था
घर वापस लौटना चाहता था
तब तुम आंखें बन्द कर के,
कोट की जेब से
हाथ निकाले बग़ैर
मन ही मन
उँगलियों पर
कुछ गिनने का बहाना करने के बाद
कहती थीं
बस उस अगले खम्भे तक और।

आज बरसों के बाद
मैं अकेला ही
उस सड़क पर निकल आया हूँ
खम्भे मुझे अजीब निगाह से देख रहे हैं
मुझ से तुम्हारा पता पूछ रहे हैं
मैं थक के चूर चूर हो गया हूँ
लेकिन वापस नहीं लौटना है
हिम्मत कर के
अगले खम्भे तक पहुँचना है।

सोचता हूँ
तुम्हें तेज चलने की आदत थी
शायद अगले खम्भे तक पहुँच कर
तुम मेरा इन्तजार कर रही होगी!

■

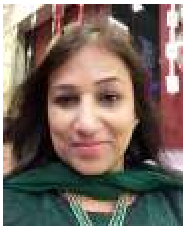

शार्दुला झा नोगजा

१ सितंबर १९६८ को गांव बनकट्टा, बिहार में जन्म। कोटा, राजस्थान से अभियांत्रिकी में स्नातक तथा जर्मनी से कम्प्यूटेशनल अभियांत्रिकी में स्नातकोत्तर। कविताएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा संकलनों में प्रकाशित। सिंगापुर हिंदी फाउंडेशन की सक्रिय सदस्य और सलाहकार। सम्प्रति - सिंगापुर में ऑयल, गैस एवं ऊर्जा विशेषज्ञ।

सम्पर्क - 2C, Hong San Walk, #12-03, Palm Gardens, Singapore ईमेल : shardula.nogaja@gmail.com

सुनो माँ! बात करनी थी!

सुनो माँ! बात करनी थी!
तुम्हें वो याद है
मिट्टी की गुल्लक दो रूपये वाली
उसे मैं भूल आई हूँ वहीं आले के कोने में
वो पूरा भर गया होगा!
अब बाबूजी नहीं हैं तो
बड़े भैया ने हौले से
हरेक पहली सितम्बर को
रखे होंगे नए सिक्के...

सुनो माँ! कोश मेरे सब अधूरे हैं बिना उसके
कि जैसे सर ये सूना है
बिना तेरी हथेली के!

सुनो माँ! बात करनी थी!
वो मेरा छींट का झोला
टंगा ही रह गया होगा
बड़ी अलमारी के अन्दर
या खूंटी पे पड़ा होगा!
लटकती उससे लव-इन-टोकियो की
दो हरी लड़ियाँ
क्या भूरी हो गईं हैं वो?
कि अब भी सब्ज़ दिखती हैं?
लगाकर तेल, चोटी गूँथकर
मैं बाँधती जूड़ा
नए जब क्लिप लगाती हूँ
वहाँ क्या वो मचलतीं हैं?

ये भारत टूर पे आयेंगे
तुमसे भी मिलेंगे माँ!
मगर क्या देख पायेंगे
तुम्हें मेरी निगाहों से
करेंगे कैसे ज़िद कि
तीसी-सजमन अब ही खानी है
तुम्हें कैसे दिखायेंगे
थोड़ा भुन्ना के, अगरा के
मेरा चांदी का पहला बाल!
लगी हो ऊंचा सुनने तुम
मगर सुन पाओगी न सब!
कहेंगे वो तुम्हें, गुड़िया तुम्हारी ठीक है मम्मी
अमूमन ठीक ही हूँ... मान लेना!
सुनो माँ! बात करनी थी!
■

राकेश खंडेलवाल

१८ मई १९५३ को भरतपुर, राजस्थान में जन्म। अप्रतिम गीतकार के तौर पर ख्याति। रचनाएँ अनेक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। काव्य संग्रह- *अमावस का चाँद, अँधेरी रात का सूरज, वैराग से अनुराग तक* तथा *धूप गंध चाँदनी* (पाँच कवियों का सम्मिलित काव्य संग्रह) प्रकाशित। सम्प्रति - अमेरिका में निवास।

सम्पर्क : Rakeshkhandelwal1k@gmail.com

ओ प्रवासी

एक

दूरियां तो मिट गईं तकनीकियों की डोर में बांध
किन्तु अपने आपसे क्या मिट सकी दूरी ज़रा भी
टूटते सम्बंध के सन्दर्भ के अवशेष चुनता
और कितने दिन भ्रमों में घिर रहेगा ओ प्रवासी

चित्र वे जिनके सपन आकर अँजा करते नयन में
कल तलक, वे बस दिवस की एक करवट के परे हैं
किन्तु उनके रंग कितने हो गए फीके न जाना
सोचता है वे अभी तक इन्द्रधनुषों से भरे हैं

टांकता जो फ्रेम ईजिल पर वही कोरा रहा है
लील कर बैठी लगा अब रंग सारे तूलिका भी

जा चुके दिन की गली में है रहा उलझा अभी तक
द्वार भी अब छोड़ जिनको और आगे बढ़ गये हैं
मूल्य जिनकी पोटली बैठा हृदय से तू लगाये
वे पहुँच के हो परे गहराईयों में गड़ गये हैं

जिन सिरों को जोड़ता तू सांझ नित अपनी गंवाता
उन सिरों की परिणति है भूल की इक तालिका

दो

हो गई धूमिल क्षितिज के पार की संभावनाएं
लुप्त तम में हो गईं छवियाँ सभी जो थीं उजासी
बीनता संबंध के बिखरे हुए अवशेष जब कि
जा चुकी है देर पहले इस डगर पर से निकासी
क्यों प्रवासी

ढूँढता सुर किसलिए तू पायलों के पनघटों पे
मन्नतों के ढूँढता धागे टंगे होंगे बटों पे
खेत में उड़ती हुई अठखेलियों से कोई बदरी
या कि हाथों के पड़ी हो छाप कोई चौखटों पे

झुक रही हैं आस्थाएं द्वार पर जा देवता के
बात ये लगने लगी हैं गल्प की इक कल्पना-सी
सुन प्रवासी

आज कल के शेष पुस्तक के सभी पन्ने फटे हैं
और गहराने लगे जो मेघ सोचा था छँटे हैं
आइना जो बिम्ब अपना हर घड़ी पर देखता था
चित्र उसमें दिख रहे जितने सभी वे अटपटे हैं

देखता है पीठ पीछे आतुरा नजरें बिछाए
छूटते पदचिह्न की इक रेख दिख जाये जरा-सी
क्यों प्रवासी

चाहता है सांझ गूंजे बोल से सारंगियों के
रंग बरसाते रहें मेले लगे नौचंदियों के
कर रखे रससिक्त मीठी-सी चुहल ब्रजधाम वाली
और हों जीवन सपने मोड़ के वयसंधियों के

एक लक्ष्मण रेख जिस पर है खड़ा लेकर अनिश्चय
इस तरफ राहें धुंआ-सी उस तरफ राहें कुहासी
ओ प्रवासी। ■

संतोष खरे

२२ जून १९७० को भोपाल में जन्म। जीवाजी विश्वविद्यालय से कंप्यूटर ऍप्लिकेशन्स में स्नातकोत्तर उपाधि। १९९६ में अमेरिका पहुँचे और इंटेल तथा माइक्रोसॉफ्ट कंपनियों में कार्य किया। कवि सम्मेलनों और मुशायरों के दीवाने हैं तथा कुंडली विधा में कविता करते हैं। अनेक मंचों से कविताओं का पाठ किया। सम्प्रति - तकनीकी उद्यमिता से जुड़ी दो कंपनियों के सीईओ हैं तथा सियाटल अमेरिका में निवास।

सम्पर्क : santosh.k.khare@gmail.com

कविता

एक

खोया क्या-क्या पाया हमने लगे सोचने आज
लगा अमेरिकी बटनों पर हिंदी वाले काज
हिंदी वाले काज पहनते सभी मुखोटे
हो जाते हैं फ़िट बटन हों छोटे-मोटे
तब भी हिंदी भाषा का इक बीज न बोया
दूध ख़रीदा पतला-पतला अच्छा खोया-खोया।

दो

बेटी बोले नाक से बेटा गिटपिटयाय
सुनकर बानी ख़ून की पिता रहें मुसकाय
पिता रहें मुसकाय नहीं कुछ उनके बस में
हवा हो गयी हया लाज की बीती रसमें
घबराते हैं वे रोज़ बनी जब कविता केटी
चली कहीं ना जाय छोड़कर बेटा-बेटी।

भाई के पचासवें जन्म दिन पर

पचा सके तो खाइये जनम दिवस पर खीर
रीवा की पैदाइश है बुंदेली के वीर
बुंदेली के वीर हैं भैया बहुत हँसाएँ
सिलिम टिरिम इस्मार्ट लुगइयाँ मर-मर जाएँ
इनके शब्दों की मार से कौनऊ बचा सके
पच्चीसई के दिखत हैं हो गये पचास के।

गुलशन मधुर

१९४१ में पेशावर में जन्म। १७ वर्षों तक आकाशवाणी दिल्ली में उद्घोषक और कार्यक्रम-प्रसारक रहे। १९७८ से २००५ तक वॉशिंगटन डीसी में 'वॉयस ऑफ अमेरिका' में समाचार-सम्पादक और प्रसारण-पत्रकार रहे। ४ साल जर्मन रेडियो डॉयचे वैले के हिन्दी कार्यक्रम के वॉशिंगटन संवाददाता रहे। टेलीविज़न कार्यक्रम 'नमस्ते एशिया' के संयोजन और प्रसारण में सहयोग। कविताएं, कहानियां और लेख आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। उत्तर अमरीका के हिन्दी लेखकों की रचनाओं के संग्रह 'दिशांतर' और कहानी-संकलन 'कथांतर' का सह-सम्पादन। सम्प्रति - अमेरिका में निवास।

सम्पर्क - gulshanmadhur@yahoo.com

फिर एक तूफ़ान

बरसों बरसों पहले
जब मैं आप्रवासी नहीं था

बड़े उजले भेस में
आई थी एक काली आँधी
उखाड़ती अनगिन पनपते पौधे
और वटवृक्ष भी
उजाड़ती कितने ही गाँव, शहर

धीरे-धीरे फिर रोपे गए
नए पौधे
इस आस के साथ
कि वे एक दिन वृक्ष होंगे

ईंट-ईंट करके
बसाई गईं नई बस्तियाँ

और अब फिर बरसों बाद
जब मैं आप्रवासी हूँ
अब भी
एक नए, लेकिन
वैसे ही उजले भेस में
आ घिरा है
एक अँधा तूफ़ान

जैसे आँधी चली गई
जाएगा तूफ़ान भी

लेकिन काल
घोषित आपात का हो
या धर्म के नाम पर फैलाई गई मूर्छा का
सत्ता के खेल में
हमेशा शिकार होंगी
फलने-फूलने की राह तकती
नन्ही कोंपलें?
वृक्ष बनने की आस लिए
नए पौधे?
और खंडहरों में से उभरती
नई बस्तियां?
■

समीर लाल 'समीर'

१९६३ में जबलपुर में जन्म और वहीं शिक्षा, चार्टर्ड एकाउंटेंट। पेशे से बैंक में टेक्नोलॉजी सलाहकार एवं टेक्नोलॉजी पर अनेक लेख प्रकाशित। हिंदी से लगाव और कविता पढ़ने और लिखने का शौक। भारत, अमेरिका, कनाडा में अनेकों कवि सम्मेलनों में शिरकत। ब्लॉग- उड़न तश्तरी http://udantashtari.blogspot.com को श्रेष्ठ हिंदी ब्लॉग IndiBloggies Award. तरकश स्वर्ण कमल से सम्मानित। किताब- 'बिखरते मोती' प्रकाशित में। संप्रति : डेढ़ दशक से कनाडा में रहते हैं।

संपर्क : sameer.lal@gmail.com

व्यंग्य-रचना

मन की हार और जीत!

कल शाम पाँच बजे बेटे के घर से अपने घर जाने के लिए निकलने के पहले खिड़की से झाँक कर देखा तो हर तरफ एकदम अँधेरा एवं सड़कों पर सन्नाटा दिखा। सर्दियों की शाम वो भी शनिवार को। यही माहौल होता है यहाँ कनाडा में। अपनी कार घर के पास के स्टेशन पर छोड़ आया था अतः बेटे ने बस स्टेशन तक पहुँचा दिया। बाकी का सफर बस एवं ट्रेन से करना था।

मैं जब घर से निकला था तो टीवी पर कोने में तापमान दिखा रहा था -१२ डिग्री सेल्सियस। उस हिसाब से एक मोटा जैकेट पहनकर निकल लिया था। कार गरम थी पता न चला मगर बस स्टेशन पर सामने से आती बस का तीन मिनट का इन्तजार भी ऐसा लगा कि मानो बरफ की सिल्ली पर लेटे हों। लगा कि वाकई अगर डेथ बाडी की डेथ न हो गई होती तो वो बरफ पर लिटाने के लिए पूरे घरवालों की ऐसी-तैसी कर डालता। हमें तो दया-सी आने लगी डेथ बाडियों पर कि कैसे लेटती होंगी? शायद यह सोच कर झेल जाती होंगी कि इकलौता बेटा आ रहा है अमरीका से। आकर चिता पर आराम से लिटाकर आग लगायेगा तो ठंड से निजात पा जावेंगे। बेटा कितना ख्याल रखता है सोचकर उसकी आँखें भर आती होंगी बरफ पर लेटे-लेटे। वो तो भला हो बरफ का कि उसकी चुअन में आँसू छिप गये वरना लोग कित्ता कमजोर समझते उसे। उसे तो अंदाज भी न होगा कि ठंड से निजात दिलाने के बाद बेटा तुरंत ही जमीन-जायजाद से भी निजात दिलाकर अमरीका लौट लेगा फिर कभी न आने के लिए।

मैं ठंड से कुड़कुड़ाते हुए बस में बैठा तो देखा कि बस में मात्र ड्राईवर साहब हैं, जिनकी सीट पर लिखा था पायलट और दूसरा मैं, पचास सीटों वाली बस में अकेला यात्री, मेरी सीट पर लिखा था पैसेन्जर। न लिखते तो चेहरा और रूप-रंग देखकर कोई अनुमान लगा सकता था कि शायद मैं कन्डक्टर हूँ और फिर उसकी निगाह ड्राईवर साहब की सीट की पायलट लिखी पट्टी पर पड़ती तो मुझे एयर होस्टेस मानने को तो कतई तैयार न होता। लिखे का बहुत अंतर पड़ता है वरना कभी वीवीआईपी सीटों पर बैठे लोगों को सिर्फ चेहरे के आधार पर आँकना हो तो पन्डाल में दरी पर बैठने का भी मुश्किल से नम्बर आये। सब झाँकी कैसे सजाई और दिखाई

गई पर निर्भर करता है। वरना तो क्या पंत प्रधान, क्या पीएम, क्या प्रधान सेवक सब एक ही बात है। प्रस्तुतिकरण का अंदाज बदल-बदल कर एक नया तमाशा दिखाना होता है। जनता के हाथ तो हर हाल में सिफर ही आना है।

तकरीबन सौ किलोमीटर की इस यात्रा में मेरे जैसा सहृदयी व्यक्ति अगर साथ न देता तो बस में अकेला ड्राईवर चला जा रहा होता। उसकी तो खैर नौकरी है। मगर देश का तो नुकसान होता ही, इतनी लम्बी यात्रा और कोई आया ही नहीं साथ निभाने। राष्ट्र की विकास यात्रा में भी अगर लोग साथ नहीं देंगे तो बस वो भी एक नुकसान का कारण ही बनकर रह जायेगी। सबको साथ देना चाहिये इस विकास यात्रा में जितना बन सके। तभी उन्होंने बोला होगा कि सबका साथ, सबका विकास। वे जानते हैं बिना सबके साथ के कुछ होगा नहीं भले ही यूँ अह्म ब्रह्म का जयकारा भरते हों।

बस गरम थी सो राहत तुरंत मिल गई। फोन पर समाचार सुनने लगा। समाचार वाचक बोला कि अभी का तापमान -१२

डिग्री है याने मैंने ठीक देखा था और उसी के हिसाब से तो तैयार भी हुआ था, फिर क्यूँ ठंड बर्दाश्त न हुई? समाचार वाचक जारी था- किन्तु हवा के साथ-साथ यह तापमान -२५ डिग्री महसूस होगा। ओह! यह मैं देखने से चूक गया था। मन में आया कि टीवी वाले को फोन करके गरियाऊँ कि महाराज, -१२ भले हो उससे मुझे क्या करना? जब मुझे ठंड -२५ की लगना है तो वो ही बताओ न! उसी हिसाब से तैयार होता।

जुमलेबाजी का ऐसा फैशन चला है कि किसी फील्ड को न छोड़ा। जीडीपी के आँकड़े भले गिर गये हों, जीएसटी से व्यापारी की कमर टूट गई हो, गल्ले में कैश के नाम पर बस दिवाली पर चढ़ाये एक सौ एक रुपये ही पड़े हों मगर भाषणों से आपको महसूस होगा कि व्यापार बहुत बढ़ा है और व्यापारी वर्ग चहुँ ओर खुशियाँ मना रहा है। नोटबंदी एकदम सक्सेसफुल रही। सारा काला धन बेकार चला गया। काला धनधारी आज भीख माँग रहे हैं भले ही आरबीआई कह रही हो कि सारे पुराने नोट वापस आ गये।

सब महसूस क्या हो रहा है, महसूस क्या कराया जा रहा है उसका खेल है। आँकड़े क्या बोल रहे हैं वो मत देखो, वो महज एक नम्बर है। आँकड़ा कह रहा है कि -१२ डिग्री तापमान है तो इससे क्या? आप महसूस तो -२५ कर रहे हैं न! उससे मतलब रखना चाहिये। कल एक मोटिवेशनल स्पीकर का ज्ञान बटुव्वल सुन रहा था। सुबह उठ कर तैयार होकर घर से निकलने के पहले एक बार शीशे के सामने खड़े होकर खुद को कहो कि यू लुक गुड मैन! फिर देखिये कि लोग भी आपको देखकर मन ही मन कहेंगे कि ही लुक गुड मैन। अब उस स्पीकर ने शायद मुझे न देखा होगा। वरना ईश्वर की ऐसी कृपा रही कि न तो रंग पे दया बरती, न तन पे और न ही कद पे। किस मुँह से कहूँ कि यू लुक गुड मैन! मैं तो बिना शीशा देखे निकल लूँ तो ही ऐसा भ्रम पाल सकता हूँ बमुश्किल। शीशा देखकर इत्ता बड़ा झूठ अव्वल तो बोल ही न पाऊँगा और बोल भी गया तो इस आत्मग्लानि को दिनभर ढो तो बिल्कुल भी न पाऊँगा। वह आगे बोले कि फिर दफ्तर के रास्ते में ट्रेन की खिड़की के बाहर देखो और कहो कि व्हाट अ ब्यूटीफुल डे। कितना सुन्दर दिन निकला है, मन प्रफुल्लित हो गया। फिर आप पायेंगे कि मन सारा दिन कितना प्रफुल्लित रहता है। अब उसे कौन समझाये कि दिल्ली में बैठकर ज्ञान बाँटना सरल है, ग्राऊन्ड पर निकलकर देखो तब समझ में आयेगा। यहाँ एक-एक फुट बरफ में पैर धँसा-धँसा कर कुड़कुड़ाते हुए ट्रेन में दुबके बैठे हैं कि कुछ देर में गरमी आये और ये समझा रहे हैं खिड़की के बाहर देखकर कहो कि व्हाट ए ब्यूटीफुल डे। मन प्रफुल्लित हो गया। आकर बोल कर दिखाओ तब जाने।

फील गुड फेक्टर हर जगह काम नहीं आता। ये तुम्हारे खेत में गेहूँ के दाने नहीं, सोने के दाने हैं। हीरे मोती हैं। ऐसा सब गाने में तो ठीक कि मेरे देश की धरती सोना उगले, उगले हीरे मोती... मगर उस किसान से पूछो जो कर्ज में दबा है। जो आत्महत्या कर रहा है। जो दो वक्त की रोटी नहीं जुटा पा रहा है, वो बतायेगा कि क्या सोना क्या हीरे मोती? सब तुम रख लो और उसके बदले हमें दो टाईम के खाने का जुगाड़ करवा दो और कर्जा माफ करा दो।

आलू से सोना निकालने वाली मशीन का झाँसा एकाध बार चुनाव तो जितवा सकता है मगर किसान के घर चूल्हा नहीं जलवा सकता। उसका कर्जा नहीं माफ करवा सकता।

शास्त्रों में भी कहा गया है कि मन के हारे हार है, मन के जीते जीत अर्थात यहाँ भी इसी बात पर जोर है कि अहसासने की बात है और उसे उस रूप में ग्रहण करने के लिए तैयारी की बात है। अगर -२५ महसूस कर रहे हो तो वैसे गरम कपड़े पहनों। -१२ महज आँकडा है उस पर न जाओ।

लोग तो यहाँ तक कह रहे हैं कि मन के जीते जीत का इतना स्ट्रांग असर है कि आप वोट किसी को डालो, जीतेंगे वो ही। काहे से कि उन्होंने मन के जीते जीत का मंत्र जगा लिया है। बताते हैं कि मंत्र जगाने के लिए बहुत जुगत करना होती है जो कि सबके बस की बात नहीं।

एक फिल्म में बड़ा फेमस डायलाग हुआ कि अगर पूरी शिद्दत से किसी को चाहो तो पूरी कायनात आपको उससे मिलाने में जुट जाती है। चाह का क्या है अहसास ही तो है। शिद्दत से चाह लिया कि इस राज्य की सरकार हमको हासिल हो फिर तो पूरी कायनात, क्या सिस्टम, क्या एवीएम, क्या वजीर क्या नजीर... सब जुट जाते हैं और सत्ता से मिलवा ही देते हैं। मने कि बात चली है तो एक उदाहरण दिया। महसूस होने और करने के तो अनेकानेक उदाहरण आसपास छितरे पड़े हैं। मानो तो मैं गंगा माँ हूँ न मानो तो बहता पानी... इसके चलते गंगा का बेटा अपनी नैय्या खेवा गया। अब माँ खोज रही है कि बेटा आया था। साफ सफाई करवाने वाला था फिर न जाने कहाँ चला गया? अंततः गंगा माँ को भी स्वयं ही महसूस करना पड़ेगा कि वह स्वच्छ हो गई हैं वरना तो कुछ होने जाने वाला नहीं। अच्छे दिन भी अहसास की बात है, महसूस करो तो हैं वरना तो क्या? बाबा जी तो हमेशा से कहते आये हैं कि करने से होता है? करो, करो, महसूस करो!

खैर, देर रात बस से ट्रेन, ट्रेन से कार, कार से घर पहुँचा तो हीटिंग से गरमागरम घर में आराम से बिस्तर पर सो गया। सुबह जागा, खिड़की से झांका, बेहतरीन धूप खिली थी। बासाख्ता बोल पड़ा- व्हाट अ ब्यूटीफुल डे! कल की सारी तकलीफें भूल गया और धूप देखकर यह भी याद न रहा कि बरफबारी के बाद जब धूप निकलती है तब तापमान और गिर जाता है। सब नेता यह स्वभाव जानते हैं कि जनता एक नये चमकदार वादे में पुरानी सारी तकलीफें भुला कर खुश हो जाती है।

फिलहाल तो धूप देखकर अच्छा लगा। घंटेभर में जब दफ्तर के लिए निकलूँगा तब की परेशानियाँ तब देखी जायेंगी। यह तो सिलसिला है। अच्छा बुरा लगा रहेगा। ये जीवन के अंग हैं। जब मौका आये तो अच्छा ज़रूर महसूस कर लो। देखो, कितनी अच्छी धूप खिली है और मन कितना प्रफुल्लित है... मगर यह भी तय है मैं शीशे के सामने जाकर खुद से अब भी यह नहीं कहने वाला कि यू लुक गुड मैन! इत्ता बड़ा झूठ... यह मैं नेताओं के लिए छोड़ देता हूँ।

हम आमजन यूँ ही ठीक! ■

सुधा दीक्षित

मथुरा में जन्म। अंग्रेजी साहित्य में एम.ए.। लखनऊ विश्वविद्यालय से स्नातकोत्तर एवं बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से एल.एल.बी. की उपाधि प्राप्त की। कविता एवं सृजनात्मक लेखन में विशेष रुचि। सम्प्रति - बंगलुरू में रहती हैं।

सम्पर्क : sudha_dixit@yahoo.co.in

व्यंग्य-रचना

भारतवंशी और भारतीयता

अँग्रेज़ियत का ख़ुमार उतर गया, जन्नत की हक़ीक़त सामने आ गयी, अतः अपना धरम, करम, पूजा, अर्चना, यहां तक कि भाषा भी याद आ गयी। हिंदुस्तान के माँ-बाप भी इतने पुराण-पंथी नहीं हो सकते, जितने ये नूतन-अमरीकन हो गये।

वक़्त की रफ़्तार भी अजीब है। कभी सुस्त (जब बोरियत हो) तो कभी तेज़ (जब ख़ुशगवारी हो)। देखो ना, अभी पिछले साल ही तो नौ जनवरी को प्रवासी दिवस मनाया था। लो, अब फिर सामने आ खड़ा हुआ। ऐ उम्र-ए-रवां आहिस्ता चल। और किसी का नहीं तो हमारी बढ़ती उमर का ही लिहाज कर। इतने सारे नये फैशन के कपड़े रखे हैं। इस तेज़ रफ्तारी से सब बेकार हो जायेंगे। वैसे भी बालों में चांदी चमकने लगी है। चेहरे पर वेदों की ऋचायें तथा कुरान की आयतें लिखी जा रही हैं। (अरे जनाब झुर्रियां पड़ रहीं हैं), पतली कमर कमरा बन गयी है, अब लचकती नहीं। मध्य प्रदेश का विस्तार हो रहा है। उत्तर प्रदेश (हमारा सर) सिकुड़ रहा है, मतलब यादाश्त कम हो रही है। ये सब तेज़ गति के कारण हो रहा है। तेज़ गति से दुर्घटना का खतरा भी बना रहता है।

रफ़्तार और हादसे की बात आते ही 'क्यों याद आ रहे हैं गुज़रे हुये ज़माने?' अच्छे भले गाँव या छोटे शहर में धीमी गति से जीवन यापन कर रहे थे। गांवों से शहर और शहरों से महानगरों की ओर भागने से ही सारी गड़बड़ी हुयी है। चलो इसे भी बर्दाश्त कर लेते; लेकिन तत्पश्चात युवा पीढ़ी को जो विदेश जाने की लत लग गयी उसने कर दिया बंटाढार। कोई विलायत को जन्नत समझ कर वहाँ जाना चाहता है, कोई पैसे कमाने के लिये। कारण कुछ नहीं हो, हम पूछते हैं 'वहाँ कौन है तेरा मुसफिर जायेगा कहाँ?' जवाब हाज़िर - अमरीका जायेंगे। ठीक है भाई, लेकिन रहेंगे कहाँ, सोयेंगे कहाँ, खायेंगे क्या? विदेशों में बसे भारतीय भारत की तरह 'अतिथि देवो भव' में यक़ीन नहीं रखते। इसलिये उनकी मेहमान नवाज़ी के भरोसे रहने का सपना मत देखना, वो लोग टका सा जवाब दे देंगे कि भैया अपना ठौर ठिकाना ढूंढ लो, तीन दिन के बाद मछली और मेहमान बदबू देने लगते हैं। इसीलिये अम्मा को फ़िक्र होती है कि लाडला गुज़ारा कैसे करेगा और अब्बा को चिंता होती है कि कुलभूषण कोई मेम वेम ना उठा लाये। दोनों सही हैं। समस्या है, निवारण कुछ नहीं। सब कुछ राम भरोसे। चलो अल्ला हाफिज़। बच्चा विलायत-पलट हो जायेगा। वापस आकर गिटपिट अंग्रेजी बोलेगा। पास पड़ोसी तथा रिश्तेदारों के आगे सर गर्व से ऊँचा हो जायेगा। और क्या चाहिये इस दुनिया में जीने के लिये! हम सलाम करते हैं इन नौनिहालों को जो ज्यों-त्यों करके समंदर पार भी चले जाते हैं और येन-केन-प्रकारेण गुज़ारा भी कर लेते हैं। जिन्होंने घर में कभी चाय की प्याली नहीं धोई (बनाना तो दूर की बात) वे वहां के भोजनालयों में बर्तन मांजते हैं, झाड़ू लगाते है (हमने लंदन हवाई अड्डे पर एक सरदारनी को खुद अपनी कमज़ोर आँखों से झाड़ू लगते देखा है)। यानि पापी पेट के लिये कुछ भी करेगा - परन्तु सिरफ विलायत में। भारत में तो ये औरतों के काम हैं। ऐसे अंग्रेज़ीदाँ नौजवानों पर तरस खाते हुए ही अकबर इलाहाबादी ने कहा था -

हुये इस क़दर मुहज़्ज़ब, कभी घर का मुंह ना देखा
कटी उम्र होटलों में, मरे अस्पताल जाकर

> अमरीका के भोगवाद और व्यक्तिवाद वाले स्वर्ग की खातिर सत्यव्रत से त्रिशंकु बन कर जीना कोई सुखमय भविष्य नहीं देने वाला। अंत में अपने अस्तित्व की गरिमा और संस्कृति के विकास के लिये अपनी भाषा और सभ्यता को पूरी तरह ग्रहण करना होगा। अपनी जड़ों की ओर लौट कर आना ही होगा।

मज़े की बात तो ये है कि इतने जीवट वाले ये लोग अक्सर वो होते हैं जिन्हें अंग्रेजी नहीं आती। एक बार फिर इनकी जिजीविषा को सलाम।

भला हो कम्प्यूटर और सॉफ्टवेयर का, जिसने भारतीय युवाओं को गौरव प्रदान कर दिया। अब वे इज़्ज़त से अमरीका में बुलाये जाते हैं क्योंकि मेहनत और बुद्धिमत्ता में हम हिंदुस्तानी अमरीकियों से आगे हैं। अब उन्हें गाड़ी, बंगला भी मिल जाता है। सुख सुविधा तक तो ठीक है, मगर उनसे ऊपर की वस्तुओं का क्या फ़ायदा अगर कोई देखकर प्रशंसा या ईर्ष्या करने वाला ना हो। कहते हैं कि किसी सुंदर स्त्री को गहने, कपड़े और प्रसाधन का सामान देकर घर के आईने छुपा दो। सोचो बेचारी का क्या हाल होगा। बस कुछ कुछ वैसी ही स्थिति इन प्रवासी अमीरों की भी होती है। ना कोई इनकी अति आधुनिक गाड़ी की ओर देखता है, ना ही इनके कपड़ों की तरफ। देखें भी क्यों? खुद अमरीकी कच्छे-बनियान (ढीले वाले निकर तथा बिना बाहों की कमीज़) में घूमते हैं। भैया थोड़ा है, थोड़े की ज़रूरत है। बस! तो आ अब लौट चलें!

चलो यह तो हो गया। मगर पिक्चर अभी बाक़ी है बाबू। कुछ समय के बाद हरा पत्र (ग्रीन कार्ड) प्राप्त करके हमारे भारतवंशी सही मायनों में अमरीकी बन जाते हैं। समस्या समाप्त! नहीं साहब! यह तो प्रारम्भ है। इब्तदा-ए-इश्क़ है, रोता है क्या, आगे आगे देखिये होता है क्या। अब तक तो संघर्ष ही करते रहे। अब ज़रा स्थिरता आयी है तो ये लोग स्वदेश की बंशी बजाने लगे। नीड़ का निर्माण हो गया, पंछी को ठिकाना मिल गया तो वतन की याद सताने लगी। वापस जाने के लिये नहीं सिर्फ़ अपने वजूद को स्थापित करने के लिये। अब इनके दिल में अपनी सभ्यता, तरबियत भाषा और संस्कृति के लिये प्रेम हिलोरे लेने लगता है। पहले इंग्लिश-विंग्लिश नहीं आती थी तो एड़ी चोटी का ज़ोर लगा के वह भाषा सीख ली - करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान। पर विडंबना यह है कि अब वो अपनी मातृभाषा भूल गये। यही नहीं, अँग्रेज़ियत का ख़ुमार उतर गया, जन्नत की हक़ीक़त सामने आ गयी, अतः अपना धरम, करम, पूजा, अर्चना, यहां तक कि भाषा भी याद आ गयी। हिंदुस्तान के माँ-बाप भी इतने पुराण-पंथी नहीं हो सकते, जितने ये नूतन-अमरीकन हो गये (इतने वर्षों में वे युवक-युवतियां बड़े होकर माँ-बाप बन गये)। दरअसल उम्र से तो ये लोग बड़े हो गये किन्तु परिपक्व नहीं हुये। वो उम्र के उसी पड़ाव पर ठहर गये जहाँ से चल कर वे यहाँ आये थे। दुनिया में हर जगह आज भी लड़कों को सात खून माफ़ हैं। लड़कियों के सर पर ही सम्मान का ताज रखा जाता है। तो साहब, जिस देश में लड़के-लड़कियां स्वच्छंद घूमते हैं उसी देश को इन्होंने स्वेच्छा से चुना था, किन्तु अब जब अपनी बेटियों को स्वतंत्रता देने का मौक़ा आता है तो इन भारतवंशियों के दिल-ओ-दिमाग़ में वृन्दावन वाली बंशी बजने लगती है। लो कर लो बात।

वो कहावत सुनी है ना कि सावन के अंधे को हर तरफ़ हरा ही हरा नज़र आता है। इस हिसाब से पतझड़ के अंधे को हर ओर सूखा ही सूखा दृष्टिगोचर होता होगा, क्योंकि हमारे बिंदास, मॉडर्न, विद्रोही और नाराज़ युवा (अपने समय के) भारत पर हिकारत की नज़र डाल कर, खुद को अँगरेज़ की औलाद समझते हुये विदेश चले जाते हैं। कुछ वर्षों के बाद जब हमारे आधे-अधूरे अँगरेज़ - अमरीकी भारत लौटते हैं तो उन्हें एक सांस्कृतिक धक्का (cultural shock) लगता है। जिस हिंदुस्तान को वो छोड़ कर गये थे, वो तो वक़्त के साथ क़दम से क़दम मिला कर चलता हुआ आधुनिकता की दहलीज़ पर खड़ा मिलता है। लजीली, शर्मीली, साड़ी वाली कन्याएं जींस और स्कर्ट में घर की लक्ष्मण रेखा लांघकर ऑफिस भी जा रही हैं, साथ ही लड़कों के साथ डेटिंग भी कर रही हैं। इस बार वे स्वयं को पिछड़ा हुआ महसूस करते हैं।

यह तो होना ही था। कर्मफल आगे आ जाता है। अपनों को छोड़कर बेहतर दुनिया की ओर प्रस्थान करने वालों के अपने बच्चे साथ रह कर भी साथ नहीं रहते। अपने जहान में व्यस्त रहते हैं। उनकी त्रासदी उनका अकेलापन है जो उन्होंने खुद खरीदा है। अपनी सभ्यता, अपनी भाषा का तिरस्कार कर उन्होंने स्वयं अपने वजूद और अपनी पहचान को खतरे में डाला है। सत्यव्रत के त्रिशंकु बनने की कहानी कुछ-कुछ ऐसी ही है। अमरीका के भोगवाद और व्यक्तिवाद वाले स्वर्ग की खातिर सत्यव्रत से त्रिशंकु बन कर जीना कोई सुखमय भविष्य नहीं देने वाला। अंत में अपने अस्तित्व की गरिमा और संस्कृति के विकास के लिये अपनी भाषा और सभ्यता को पूरी तरह ग्रहण करना होगा। अपनी जड़ों की ओर लौट कर आना ही होगा। ■

शब्दों की चौकीदारी संभव नहीं- अनुपम मिश्र

अनुपम मिश्र को गुजरे एक बरस बीत गया। वे पानी और पर्यावरण पर काम करने के लिए जाने जाते थे लेकिन उनकी सर्वाधिक चर्चित पुस्तक 'आज भी खरे हैं तालाब' के साथ उन्होंने एक ऐसा प्रयोग किया जिसमें उनकी दूरगामी दृष्टि दिखती है। उन्होंने अपनी इस किताब पर किसी तरह का कापीराईट नहीं रखा। इस किताब की अब तक एक लाख से अधिक प्रतियां प्रकाशित हो चुकी हैं। मीडिया, वर्तमान स्वरूप और कापीराईट के सवालों पर उनके विचार अब भी प्रासंगिक हैं।

कापीराईट को लेकर आपका नजरिया यह क्यों है कि हमें अपने ही लिखे पर अपना दावा (कापीराईट) नहीं करना चाहिए ?

कापीराईट क्या है इसके बारे में मैं बहुत जानता नहीं हूं। लेकिन मेरे मन में जो सवाल आये और उन सवालों के जवाब में मैंने जो जवाब तलाशे उसमें मैंने पाया कि आपका लिखा सिर्फ आपका नहीं है। आप एक जीवन में समाज के किस हिस्से से कब और कितना सीखते, ग्रहण करते हैं इसकी कोई लाईन खींचना कठिन काम है। पहला सवाल तो यही है कि मेरे दिमाग में जो है वह क्या केवल मेरा ही है? अगर आप यह मानते हैं कि आपका लिखा सिर्फ आपका है तो फिर आपको बहुत कुछ नकारना होगा। अपने आपको एक ऐसी ईकाई साबित करना होगा जिसका किसी से कोई व्यवहार नहीं है। न कुल परिवार से न समाज से। क्योंकि हम कुल, परिवार, समाज में बड़े होते हुए ही बहुत कुछ सीखते हैं और उसी से हमारी समझ बनती है। अगर आप कापीराईट का इतिहास देखें तो पायेंगे कि हमारे समाज में कभी कापीराईट की कोई प्रवृत्ति नहीं थी। अपने यहां कठिन श्रम से प्राप्त की गयी सिद्धि को भी सिर्फ सेवा के निमित्त उपयोग की जाती है। मीरा, तुलसी, सूरदास, नानक ने जो कुछ बोला, लिखा वह सब हाथ से कापियां लिखी गयीं। तमिलनाडु में ऐसे हजारों ग्रंथ हैं जो हाथ से लिखे गये और हाथ से लिखे ग्रंथ भी दो-ढाई हजार साल अनवरत शुद्धत्तम स्वरूप में जिंदा रहे हैं। इसलिए यह कहना कि कापीराईट से मूल सामग्री से छेड़छाड़ होनी बच जाती है ऐसा नहीं है। जिनका जिक्र मैं कर रहा हूं वे सब बिना कापीराईट के भी शुद्धतम स्वरूप में लंबे समय तक बची रही हैं और आज भी विद्यमान हैं। उनको तो किसी कापीराईट एक्ट की जरूरत महसूस नहीं हुई फिर आपको क्यों होती है?

अनुपम मिश्र

कॉपीराईट का नियम अंग्रेजों के साथ भारत में आया लेकिन दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि किसी के मन में कभी यह सवाल और संदेह नहीं उठा कि आखिर हम कापीराईट का इस्तेमाल क्यों करें? महात्मा गांधी तक ने अपनी कापीराईट एक ट्रस्ट नवजीवन ट्रस्ट को पचास साल के लिए दे दिया था। अब पचास साल बाद गांधी के लिखे पर फिर कापीराईट हट गया है, तो फिर महज पचास साल के लिए इसका पालन करने से गांधी विचार भी नहीं बच सका। यह सब देखकर आश्चर्य होता ही है।

लेकिन आज के इस व्यावसायिक युग में किसी का लिखा उसका व्यवसाय भी हो सकता है जिससे उसके जिंदगी की गाड़ी चलती है। वो भला अपना लिखा समाज को अर्पित कर दे तो अपना गुजारा कैसे करेगा ?

जिस दिन हम केवल कमाने के लिए लिखने लगेंगे उस दिन हमारे लिखने की गुणवत्ता भी गिर जाएगी। लिखना केवल पैसे के लिए नहीं होना चाहिए। कुछ लोग पैसे के लिए काम करते हैं तो भी उनको ध्यान रखना चाहिए कि वे जो लिखना चाहते हैं वह लिखें न कि पैसे देकर उनसे कोई कुछ लिखवाता है तो केवल वही न करते रहें। समाज ऋण भी कुछ होता है जिसको चुकाने की नैतिक जिम्मेदारी महसूस होनी चाहिए। अगर आप सिर्फ पैसे के लिए लिखेंगे तो कभी वह नहीं लिख पायेंगे जो आप लिखना चाहते थे। आप बाजार में अपना लिखा एक तराजू पर लेकर खड़े हो जाएं और अशर्फियों में बोली लगाना शुरू करेंगे तो मुश्किल

होगी। फिर जो अशर्फी देगा वह आपके लिखे को ले जाएगा। असल में कापीराईट का व्यवसाय यह अशर्फी देनेवाला समाज पैदा करता है। क्योंकि उसको आपके लिखे से मुनाफा कमाना है। इसलिए लिखने वालों को यह जरूर सोचना चाहिए कि आखिर वे किसके लिए लिख रहे हैं? एक बात जान लीजिए, अशर्फी लेकर लिखने वाले लोग अस्तित्व में लंबे समय तक उपलब्ध नहीं रह पाते हैं। एक समय के प्रवाह में आते हैं और अशर्फी में तुलकर समाप्त हो जाते हैं। मुंबई फिल्म उद्योग में कम पैसा है? लेकिन जरा देखिए, कल के स्टार आज किस गर्त में पड़े हैं? यही आज के स्टारों के साथ कल होगा। यही बात लेखकों पर भी लागू होती है। अच्छे लिखने वालों की कीमत बाजार में नहीं समाज में निर्धारित होनी चाहिए। जहां तक आजीविका चलाने की बात है तो इसमें व्यावहारिक दिक्कत कम और मानसिक संकट ज्यादा है। अगर हम बुद्धि के श्रम के साथ थोड़ा शरीर का श्रम भी जोड़ दें तो दिक्कत नहीं होगी। आखिर क्यों हम केवल बुद्धि के श्रम की कमाई ही खाना चाहते हैं? यह तो विकार है। सड़क पर कूदने से अच्छा है कि थोड़ी देर खेत में कूद लो। थोड़ा श्रम करके पूंजी अर्जित कर लो। केवल अपने लिखे का मत खाओ। तब शायद ज्यादा अच्छा लिख सकोगे। ऐसा जीवन मत जियो जो केवल लिखने पर टिका हो।

टेक्नॉलाजी के इस युग में कापीराईट कितना प्रासंगिक रह गया है?

टेक्नालाजी और कापीराईट दो विरोधाभासी तत्व हैं। जब टेपरिकार्डर आया तो वह सूटकेस के आकार में था। आप किसी जगह भाषण देते थे तो वह रिकार्ड होना शुरू हो गया। इसके बाद टेपरिकार्डर का आकार छोटा होता गया और आज हम मोबाइल में ही सब कुछ रिकार्ड कर सकते हैं। अब सोचिए किसी के भाषण पर कापीराईट का अब क्या मतलब? मेरे बोले को कौन कैसे रिकार्ड करके कहां पहुंचा देगा, मैं भला कैसे जान पाऊंगा? जैसे टेपरिकार्डर ने एक तरह के कापीराईट को खत्म किया उसी तरह फोटोकापी मशीन ने लिखे के कापीराईट को अप्रासंगिक बना दिया। अब कम्प्यूटर ने तो सारी हदें तोड़ दी हैं। पहले तो हाथ से मजदूरी करके कापी करना होता था लेकिन टेक्नालाजी ने शेयरिंग का सब काम आसान कर दिया है। फिर क्यों झंझट मोल लेते हो? संभवतः टेक्नालाजी हमें बता रही है कि देखो राजा! शब्दों की चौकीदारी संभव नहीं। इसलिए इसका आग्रह छोड़ दो। जो संभव नहीं, उसका आग्रह रखने की क्या जरूरत है?

आपने कहा कि केवल अपने लिखे का मत खाओ। क्या इसको आप थोड़ा और स्पष्ट करेंगे?

ऐसा कहने का मेरा आशय है कि इतना अच्छा लिखो कि तुम्हारे लिखे का कोई और भी खाये। मैं ऐसा नहीं कह रहा कि आपके लिखे का सिर्फ प्रकाशक खाये। कुछ ऐसा लिखिए कि समाज के लोगों को कुछ फायदा हो। उनका जीवन सुधरे। उनका पानी रुके। उनका अकाल दूर हो। बाढ़ में चार गांव तैर जाएं। कुछ ऐसा लिख दो कि संकट में लोगों के लिए वह संबल की तरह काम आये। हो सकता है कि इसके लिए पैसा न मिले लेकिन बदले में और भी बहुत कुछ मिलेगा जो पैसे से ज्यादा कीमती होगा। लिखने वाली जमात को यह समझना होगा।

आपने अपने लिखे पर कभी कापीराईट नहीं रखा। क्या आपको जीवन में आर्थिक संकट नहीं उठाना पड़ा?

प्राप्ति सिर्फ पैसे की ही नहीं होती है। मुझे पैसा नहीं मिला लेकिन बदले में समाज का इतना प्यार मिला है जिसके सामने पैसे का कोई मोल नहीं है। मैं एक सामाजिक संस्था (गांधी शांति प्रतिष्ठान) में काम करता हूं और कल्पना से भी बहुत कम मानदेय प्राप्त करता हूं। लेकिन मुझे जीवन में न कोई शिकायत है और न ही कोई संकट। मैंने पैंतीस साल पहले ही तय कर लिया था कि मुझे अपने लिखे पर कोई कापीराईट नहीं रखना है और आज तक नहीं रखा और न आगे कभी होगा। कुछ अप्रिय प्रसंग जरूर आये लेकिन व्यापक तौर पर तो समाज का फायदा ही हुआ और बदले में मुझे उनका अथाह प्यार और सहयोग मिला। आप देखिए दुनिया में तो अब एक नया फैशन ही चल पड़ा है कापी लेफ्ट का। खुले समाज की नयी परिभाषाएं बन रही हैं तो फिर हम अपनी ओर से उस खुले समाज के गुल्लक में एक सिक्का क्यों नहीं डालते? अच्छी चीज को रोककर आखिर हम क्या करेंगे? अगर हम सब बातों में खुलापन चाहते हैं तो अपने ही लिखे पर प्रतिबंध क्यों लगाएं? वैसे भी अब टेक्नालाजी इसकी इजाजत नहीं देती है।

क्या अधिकार का दावा छोड़ना ही एकमात्र रास्ता है?

जी बिल्कुल। यही प्राकृतिक व्यवस्था है। क्या अनाज अपने ऊपर कापीराईट रखता है कि एक दाना बोएंगे तो सिर्फ एक दाना ही वापस मिलेगा? पेड़-पौधे अपने ऊपर कापीराईट रखते हैं? पानी अपने ऊपर कापीराईट रखता है? तो फिर विचार पर कापीराईट क्यों होना चाहिए? प्रकृति हमको सिखाती है कि चीजें फैलाने के लिए बनायी गयी हैं।

कापीराईट और लाभ की मानसिकता ने क्या चौथे खंभे पत्रकारिता के सामने भी संकट पैदा किया है?

पहले तो इसे चौथा खंभा क्यों कहते हो? हमने एक काल्पनिक महल खड़ा कर लिया जिसके चार खंभे बना लिये हैं। मुझे तो चारों खभों के बारे में शक है। ऐसे खंभे पर टिकाते जाएं तो फिर बारहखंभा में क्या दुर्गुण है? सड़क पर एक हवेली थी उसमें बारह खंभे थे इसलिए उसका नाम बारह खंभा हो गया। ये लोकतंत्र के सभी खंभे बालू की भीत में लगे हवा के खंभे हैं। चौथा खंभा भी खंभा नहीं बल्कि खोमचा है। आप देखिए अब खबरें बिक रही हैं तो आप इसे खंभा कहेंगे या फिर खोमचा? इस खोमचे में काम करनेवाले पत्रकार भी इस पतन के लिए उतने ही जिम्मेदार हैं जितने खोमचे के मालिक। पत्रकार अपनी जिम्मेदारी से बच नहीं सकते। ■

निरंतर आपका 'गर्भनाल' दस्तक देता है। नए-नए चित्रों व लोकप्रिय विषयों पर धुरंधर विद्वानों की लेखिनी से जो निखार आता है, सचमुच पढ़ने में स्वाद आ जाता है। आपको और आपके सारे सम्पादक मंडल और लेखक, लेखिकाओं को हृदय से बधाई। मैं भी रवीश कुमार का भक्त हूँ। भारत में दूरदर्शन पर उनकी प्रभावपूर्ण प्रस्तुति और निर्भीक आवाज़ देशवासियों के लिए एक नयी प्रेरणा है। वह जिस लगन और शोधपूर्ण विश्वास से वे विषय विशेष पर चर्चा करते हैं, बहुत ही सराहनीय है। आजकल हमें ऐसे ही प्रवक्ताओं की आवश्यकता है। आपका सम्पादकीय 'भारत में शिक्षा की दशा और रवीश की आवाज़' बहुत ही आँखें खोलने वाला है। मैं व्यक्तिगत तौर पर इनसे सम्पर्क करना चाहूँगा लेकिन भारत में इतने सितारे हैं मीडिया में लेकिन यह तो एक ध्रुव तारे के समान है। जिसकी आवाज़ में दम है।

श्याम त्रिपाठी, हिंदी चेतना, कनाडा

हमेशा की तरह नियत समय पर गर्भनाल का दिसम्बर अंक प्राप्त हुआ। रवीश की आवाज़ ने उत्सुकता जगाई है, पढ़कर प्रतिक्रिया दूँगी।

अंजली त्रिपाठी, सिंगापुर

बहुत ही उम्दा संपादकीय। आपकी जो लिखने की शैली है, मैं उसका कायल हूँ और आपने बहुत सही ढंग से मुद्दों को उठाया है। मैं रवीश की रिपोर्ट पूरी तरह से देख रहा था। उन्होंने उत्तराखंड से लेकर मुम्बई तक सब जगह की रिपोर्ट दिखाई, उसमें से एक यादवराव तासगांवकर अभियांत्रिकी विद्यालय तो मेरे घर से महज पचास किलोमीटर की दूरी पर है। उसकी वास्तविकता भी मुझे पता है। शिक्षा व्यवस्था और भ्रष्टाचार से कई वर्षों से विश्व विद्यालय अनुदान आयोग, अखिल भारतीय तकनीकी ज्ञान संस्थान से लड़ रहा हूँ, नतीजा सिर्फ आंशिक सफलता। आपने सही कहा हमें जिन मुद्दों को उठाना चाहिये, उठाते नहीं बस गाय बकरियों की चर्चा में उलझकर रह जाते हैं।

गोविंद तिवारी, मुंबई

सुंदर और प्रेरक संपादकीय के लिए बधाई। आपने एक जगह बावजूद भी लिखा है? तो एक जगह भी नहीं, जहां तक मेरा ज्ञान है बावजूद के बाद भी नहीं लगता। प्रेमपाल शर्मा जी का लेख गंभीर है, बहुत महत्वपूर्ण मुद्दों पर उन्होंने बात रखी है । लीना जी का लेख ज्ञानप्रद है पर राहुल उपाध्याय सिर्फ संप्रेषण की बात करते हैं और भाषाई शुद्धता को गौण मानते हैं, जो सही नजरिया नहीं लगता। शुद्धता तो आवश्यक है, यह बात और है कि अतिवादी होने से बचना चाहिए। ऑस्ट्रेलिया के लोगों की पर्यावरण के प्रति जागरूकता के बारे में पढ़कर प्रसन्नता हुई। यात्रा संस्मरण पढ़कर चीन के बारे में अच्छी जानकारी मिली। विनीता तिवारी की प्रतिक्रिया ने मन मोह लिया, उनकी बातों से सहमत हूँ।

गीता दुबे, कोलकत्ता

गर्भनाल के दिसम्बर अंक के सम्पादकीय पर मेरा अभिमत : विगत कुछ माह पूर्व रवीश कुमार ने एनडीटीवी पर एकदम बिहारी स्टाइल में शिक्षा जगत की दिशा और दशा पर जो स्थल-पड़ताल लगभग वस्तुनिष्ठ ढंग से की थी, उसके कुछ अंक मैंने भी देखे थे।

आपने रवीश जी की इस बात को मुद्दा बनाकर पेश किया है कि धर्म सम्प्रदाय और जाति इत्यादि की बेकार बहसों से बाहर आकर अपने बच्चों के भविष्य निर्माण के लिये आज की शिक्षा व्यवस्था की समस्याओं पर बहस करें और इससे कैसे निजात पाएं इस पर चिन्तन, मनन, सार्वजनिक चर्चा भी करें। आपका यह बहुत अच्छा सुझाव है तथा यदि गर्भनाल की तरह शेष प्रिन्ट मीडिया भी शैक्षिक जगत की दुरवस्था पर निरन्तर केन्द्रित बना रहे तो सुधार होने में देर नहीं लगेगी, क्योंकि इससे जो जागरूकता आएगी वह एक जनआंदोलन का, आक्रोश और आकांक्षा का रूप ले लेगी। गर्भनाल और एनडीटीवी दोनों निरंतर इस शैक्षिक मुद्दे को चर्चा में बनाए रख सकें तो ये अपना सकारात्मक प्रभाव बना कर रख सकेंगे।

वस्तुतः कुछ होनहार युवाओं के आईटी इत्यादि कुछ क्षेत्रों में विश्व स्तर पर उभर कर सामने आ जाने से हम विश्व गुरू बनने का सपना देखने लग गए हैं। भले ही अभी एक सर्वे में बंगलुरू ने अमेरिकी सिलीकॉन वैली को पीछे छोड़ दिया हो पर कुछ इने-गिने उत्कृष्ट आईटी केन्द्र भारत की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकते और संसाधनों के अभाव में ऐसे संस्थानों का लोकव्यापीकरण भी नहीं हो सकता। क्योंकि सब कुछ अदूरदर्शी नीति पर चल रहा है। इंजीनियरिंग संस्थानों में अब सीटें खाली पड़ी हैं, एमबीए पास क्लर्क के पद के लिए आवेदन दे रहे हैं। कारण इनकी व्यवहार में उपयोगिता शून्य है। किताबी ज्ञान से नौकरी नहीं मिल रही और न ही स्वयं के रोजगार शुरू कर पाने की योग्यता आ रही है। मेक इंडिया अभियान, कौशल विकास को ऐसे में भला इनसे क्या मदद मिलेगी।

रवीश जी ने छोटे-बड़े सभी संस्थानों के क्रास सैक्शन की स्थल रिकार्डिंग, इन्टरव्यू भी दिए हैं। इन्हें देखकर वाकई दुख हुआ कि आखिर हम क्यों और कब तक इस शिक्षा क्षेत्र की उपेक्षा करते रहेंगे जो हमारे बच्चों को नैतिकता सिखाने, आत्मनिर्भर बनाने, समृद्ध और सुखी बनाने का आधार है। आज यूरोप और अमेरिका में संस्कृत श्लोक 'समानो मंत्रः समिति समानी, समानं व्रतं, सह चित्त मेषाम' जैसे वैदिक पाठ के वीडियो व्हाट्सएप पर प्रचलित हैं, जिन्हें देखकर हम हर्षित होते हैं कि वाह हम विश्व गुरू थे और अब फिर होंगे। पर यह शेखचिल्ली जैसी मूर्खता है हमारी। भारत में तो संस्कृत को सेकेंडरी कक्षाओं में वैकल्पिक ही बना दिया गया है। इसी क्रम में रवीश जी ने संस्कृत संस्थानों का डीम्ड यूनिवर्सिटीज इत्यादि का भी कुछ खाका खींचा था जो संस्कृत की भारत में निराशाजनक एवं उपेक्षित स्थिति को दर्शाता है।

ऐसा नहीं कि शिक्षा जगत में अँधेरा ही व्याप्त है, अँधेरा तो नहीं पर अँधेरगर्दी तो है ही, दिशाभ्रम तो और भी अधिक है। प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया दोनों एकजुट होकर शिक्षा क्षेत्र के उन्नयन में कार्य करें यही आशा करता हूँ। विगत १२ वर्षों से अधिक समय तक अतिथि अध्यापक के रूप में विश्वविद्यालयों से जुड़ा रहा हूँ इसलिये मेरी भी यह आकांक्षा है कि देश के विश्वविद्यालय अनुसंधान के केन्द्र फिर से बनें, जो अभी बोर्ड की परीक्षाओं के केन्द्र के निम्न स्तर पर आ गए हैं।

ब्रजेन्द्र श्रीवास्तव, ग्वालियर

हिन्दी USA
Hindi USA®
Celebrating Sixteen Years of Serving the Community!
HINDI CLASSES FOR CHILDREN AGES 5 - 16
AT ALL LEVELS OF PROFICIENCY
Schools throughout NJ, CT, MA, and MD, along with affiliates throughout the U.S.
MASSACHUSETTS
CONNECTICUT
NEW JERSEY
MARYLAND
DELAWARE
Enroll Your Child in Classes Today-
Log onto www.hindiusa.org
or Call 1-877-HINDIUSA
to register your child and give him the gift of our cultural heritage
EARLY BIRD DISCOUNT ENDS JULY 15!
SPECIALIZED CURRICULA
EXAMS TO ASSESS PROGRESS
CULTURAL PROGRAMS